रश्मिबंध

श्री सुमित्रानंदन पंत

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

क्रम

परिदर्शन

'रश्मिबंध' पहला ही संकलन है जिसमें मेरी 'वीणा' से लेकर 'वाणी' तक की चुनी हुई रचनाएं संगृहीत है। इसके छोटे आकार में मेरी वाणी केवल इंगितों द्वारा ही अपने को अभिव्यक्त कर सकी है; फिर भी, चयन की दृष्टि से, मुझे विश्वास है, यह किरणों का पुलिंदा, अपने सतरंग वैभव से पाठकों का ध्यान आकर्षित कर, अपना नाम सार्थक कर सकेगा।

अपने साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश करने के लिए कवि या कलाकार कहाँ से, कैसे, प्रेरणा ग्रहण कर 'मंदः कवियशः प्रार्थी' का कार्य आरम्भ करता है, यह बतलाना कठिन है। सम्भवतः तब प्रेरणा के स्रोत भीतर न होकर अधिकतर बाहर ही रहते है। अपने समय के प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं से ही किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होकर उदीयमान कवि अपनी लेखनी की परीक्षा लेता है। जब मैंने कविता लिखना आरम्भ किया था तब मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं था कि काव्य की मानव-जीवन के लिए क्या उपयोगिता या महत्ता है। न मैं यही जानता था कि उस समय काव्य-जगत् में कौन-सी शक्तियाँ कार्य कर रही थीं। जैसे एक दीपक दूसरे दीपक को जलाता है, उसी प्रकार द्विवेदी-युग के कवियों की कृतियों ने मेरे हृदय को अपने सौन्दर्य से स्पर्श किया और उसमें एक प्रेरणा की शिखा जगा दी। उनके प्रकाश में मैं भी अपने भीतर-बाहर अपनी रुचि के अनुकूल काव्य के उपादानों का चयन एवं संग्रह करने लगा। यह ठीक है कि दीपशिखा जैसे तद्वत् दूसरी दीपशिखा को जन्म देती है, उस प्रकार पिछली पीढ़ी की काव्य-चेतना मेरे भीतर ज्यों-की-त्यों नहीं उतर आई। मेरे मन ने अपनी रुचि के अनुरूप उसका संस्कार कर उनमें अपनेपन की छाप लगा दी।

अपने काव्य-जीवन पर दृष्टिपात करने पर मेरे भीतर यह बात स्पष्ट हो उठती है कि मेरे किशोर-प्राण मूक कवि को बाहर लाने का सर्वाधिक श्रेय मेरी जन्मभूमि के उस नैसर्गिक सौन्दर्य को है जिसकी गोद में पलकर मैं बड़ा हुआ हूँ। मेरे भीतर ऐसे संस्कार अवश्य रहे होंगे जिन्होंने मुझे कवि-कर्म करने की प्रेरणा दी थी, किन्तु उस प्रेरणा के विकास के लिए स्वप्नों के पालने की रचना प्रर्वत-प्रदेश की दिगंत-व्यापी प्राकृतिक शोभा ही ने की, जिसने छुटपन से ही मुझे अपने रुपहले एकान्त में एकाग्र तन्म-यता के रश्मिदोल में झुलाया, रिझाया तथा कोमलकंठ वन-पांखियों के साथ बोलना-कुहुकना सिखलाया। प्रकृति-निरीक्षण और प्रकृति-प्रेम मेरे स्वभाव के अभिन्न अंग ही बन गए हैं, जिनसे मुझे जीवन के अनेक संकट-क्षणों में अमोघ सांत्वना मिली है।

कौसानी की उस जुगनुओं की जगमगाती हुई एकांत घाटी का अवाक् सौंदर्य मेरी रचनाओं में अनेक विस्मय-भरी उद्‌भावनाओं में प्रकट हुआ है :

'उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही मा,
वह अपनी वय बाली में !'

उषा, संध्या, फूल, कोंपल, कलरव, मर्मर, ओसों के वन और नदी-निर्झर मेरे एकाकी किशोर मन को सदैव अपनी ओर आकर्षित करते रहे हैं और सौन्दर्य के अनेक मद्य:स्फुट उपकरणों से प्रकृति की मनोरम मूर्ति रचकर मेरी कल्पना समय-समय पर उसे काव्य-मन्दिर में प्रतिष्ठित करती रही है। प्रस्तुत संग्रह की 'हिम प्रदेश' शीर्षक रचना में कौसानी का वर्णन इस प्रकार आया है :

'आरोही हिमगिरि चरणों पर
रहा ग्राम वह मरकत मणि कण
श्रद्धानत-आरोहण के प्रति
मुग्ध प्रकृति का आत्म-समर्पण !
सांझ-प्रात स्वर्णिम शिखरों से

झाभाएं बरसातीं वैभव,
ध्यानमग्न निःस्वर निसर्ग निज
दिव्य रूप का करता अनुभव !'

'हिमाद्रि' शीर्षक रचना में भी प्राकृतिक सौन्दर्य के अनेक रूपों का चित्रण मिलेगा :

'मेघों की छाया के संग-संग,
हरित घाटियां चलतीं प्रतिक्षण,
वन के भीतर उड़ता चंचल
चित्र तितलियों का कुसुमित वन !
रंग-रंग के उपलों पर रणमण
उछल उत्स करते कल गायन,
झरनों के स्वर जम-से जाते
रजत हिमानी सूत्रों में घन !'

'मेरा रचना-काल' तथा 'मैं और मेरी कला' आदि शीर्षक अपने निबंधों में मैंने अपने कवि-जीवन की आरंभिक अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है : 'तब मैं छोटा-सा चंचल भावुक किशोर था; मेरा काव्य-कंठ अभी नहीं फूटा था। पर प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि जीवन के लिए, मेरे बिना जाने ही, जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय में वह अपनी मीठी, स्वप्नों से भरी, चुप्पी अंकित कर चुकी थी, जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरों में बज उठी। पहाड़ी पेड़ों का क्षितिज न जाने कितने ही हलके-गहरे रंगों की कोंपलों और फूलों में मर्मर गुंजन भरकर मेरे भीतर अपनी सुन्दरता की रंगीन सुगंधित तहें जमा चुका था। 'मधुवाला' की 'मधुबोली-सी' अपने हृदय की उस गुंजार को मैंने 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में 'यह तो तुतली बोली में है एक बालिका का उपहार' कहा है। पर्वत प्रदेश के उज्ज्वल चंचल सौंदर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सम्मोहन का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बरफ़ की ऊंची चमकीली चोटियां रहस्य-भरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर

टिका हुआ रेशमी आकाश, विशाल पक्षी की तरह, अपने निःस्वर नील पंख फैलाए प्रतिक्षण जैसे उड़ने को प्रस्तुत लगता था। कितने ही इन्द्र-धनुष मेरे कल्पनापट पर रंगीन रेखाएँ खींच चुके थे; बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौंध कर चुकी थी; फेनों के झरने मेरे मन को फुसला-कर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाश-चुबी सौन्दर्य मेरे हृदय पर एक महान् सन्देश, एक स्वर्गोन्मुखी उदात्त आदर्श तथा एक विराट् व्यापक आनन्द, सौन्दर्य तथा तप पूत पवि-त्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।

आगे चलकर अपनी 'हिमाद्रि' शीर्षक रचना में मैंने अपनी इस अनु-भूति को इस प्रकार वाणी दी है :

'शिखर-शिखर ऊपर उठ तुमने
मानव-आत्मा कर दी ज्योतित
हे असीम आत्मानुभूति में लीन
ज्योति श्रृंगों के भूभृत् !'
'सोच रहा, किसके गौरव से
मेरा यह अन्तर्जग निर्मित,
लगता तब, हे प्रिय हिमाद्रि
तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित !'

सन् १६१८ से २० तक की अधिकांश रचनाएँ मेरे 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में छपी है। 'वीणा' काल में मैंने प्रकृति की छोटी-मोटी वस्तुओं को अपनी कल्पना की तूली से रंगकर काव्य की सामग्री इकट्ठी की है। 'वीणा' में प्रकाशित 'प्रथम रश्मि' नामक कविता ने काव्य-साधना की दृष्टि से नवीन प्रभात-किरण की तरह प्रवेश कर मेरे भीतर 'पल्लव'-काल के काव्य-जीवन का समारम्भ कर दिया था। सन् १६१६ की जुलाई में मैं कालेज में पढ़ने के लिए प्रयाग आया, तब से प्रायः दस साल तक प्रयाग ही में रहा। यहाँ मेरा काव्य-संबंधी ज्ञान धीरे-धीरे व्यापक होने लगा। शेली, कीट्स, टेनिसन आदि अंग्रेजी कवियों से मैंने बहुत-कुछ सीखा। मेरे

मन में शब्द-चयन और ध्वनि-सौंदर्य का बोध पैदा हुआ। 'पल्लव'-काल की प्रमुख रचनाओं का आरंभ इसके बाद ही होता है। प्रकृति-सौंदर्य और प्रकृति-प्रेम की अभिव्यंजना 'पल्लव' में अधिक प्रांजल तथा परिपक्व रूप में हुई है। 'वीणा' की विस्मय-भरी रहस्यप्रिया बालिका अधिक मासल, सुरुचि-सुरंगपूर्ण बनकर, प्रायः मुग्धा युवती का हृदय पाकर, जीवन के प्रति अधिक सवेदनशील होकर, 'पल्लव' में प्रकट हुई है। इस प्रकार प्रकृति की रमणीय वीथिका से होकर ही मैं काव्य के भाव-विशद सौंदर्य प्रासाद में प्रवेश पा सका।

'पल्लव' की छोटी-बड़ी अनेक रचनाओ मे प्राकृतिक सौदर्य की झाकियाँ दिखाती हुई तथा भावना के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई मेरी कल्पना 'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे मेरे उस काल के हृदय-मंथन तथा बौद्धिक संघर्ष की विशाल दर्पण-सी बन गई है, जिसमें 'पल्लव'-युग का मेरा मानसिक विकास तथा जीवन की संग्रहणीय अनुभूतियो के प्रति मेरा दृष्टिकोण प्रतिबिंबित है। इसका अनित्य जगत में नित्य जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन मे 'परिवर्तन' के रचना-काल से ही प्रारम्भ हो गया। 'परिवर्तन' उस अनुसंधान का केवल एक प्रारंभिक भावोच्छ्वास-मात्र है।

'वीणा'-काल का प्राकृतिक सौदर्य का प्रेम 'पल्लव' की रचनाओं में भावना के सौंदर्य की माँग बन गया है और प्राकृतिक रहस्य की भावना ज्ञान की जिज्ञासा में परिणत हो गई है। वीणा की रचनाओं मे जो स्वाभाविकता मिलती है वह 'पल्लव' में कला-संस्कार तथा अभिव्यक्ति के मार्जन में बदल गई है। 'पल्लव' की अधिकांश रचनाएँ प्रयाग में लिखी गई है। सन् १९२१ के असहयोग-आंदोलन के साथ ही हमारे देश की बाहरी परिस्थितियों ने भी जैसे हिलना-डुलना सीखा। युग-युग से जड़ीभूत उनकी वास्तविकता में सक्रियता तथा जीवन के चिह्न प्रकट होने लगे। इस जागरण के भीतर से एक नवीन वास्तविकता की रूपरेखा चित्त को आकर्षित करने लगी। मेरे मन में वे संस्कार धीरे-धीरे संचित तो होने लगे पर

'पल्लव' की रचनाओं में वे मुखरित नहीं हो सके। 'पल्लव' की सीमाएँ छायावादी अभिव्यंजना की सीमाएँ हैं। वह पिछली वास्तविकता के निर्जीव भार से आक्रांत उस भावना की पुकार थी जो बाहर की ओर राह न पाकर भीतर की ओर स्वप्न-सोपानों पर आरोहण करती हुई युग के अवसाद तथा विवशता को वाणी देने का प्रयत्न कर रही थी और साथ ही कल्पना द्वारा नवीन वास्तविकता की अनुभूति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही थी। 'पल्लव' की प्रतिनिधि रचना 'परिवर्तन' में विगत वास्तविकता के प्रति असंतोष तथा परिवर्तन के प्रति आग्रह की भावना विद्यमान है। साथ ही जीवन की अनित्य वास्तविकता के भीतर से नित्य सत्य को खोजने का प्रयत्न भी है, जिसके आधार पर नवीन वास्तविकता का निर्माण किया जा सके। 'गुंजन'-काल की रचनाओं मे जीवन-विकास के सत्य पर मेरा विश्वास प्रतिष्ठित हो चुका है।

सुन्दर से नित सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे, सुन्दर सुन्दर जग जीवन !'

आदि रचनाओं में मेरा मन युगीन वास्तविकता से ऊपर उठकर स्थायी वास्तविकता के विजय-गीत गाने को लालायित हो उठता है और उसके लिए आवश्यक साधना को अपनाने की तैयारी करने लगता है। उसे 'चाहिए विश्व को नव जीवन' का अनुभव भी होने लगता है और वह अपनी इस आकांक्षा से व्याकुल रहने लगा है।

'गुंजन' में धीरे-धीरे मैंने अपनी ओर मुड़कर तथा अपने भीतर देखकर अपने बारे में गुनगुनाना सीखा। अपने भीतर मुझे अधिक नहीं मिला। व्यक्तिगत आत्मोन्नयन के सत्य में मुझे तब कुछ भी मोहक, सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण नहीं दिखाई दिया। मैंने जीवन-मुक्ति के लिए छटपटाती हुई अपनी जीवन-कामना तथा राग-भावना को 'ज्योत्स्ना' के रूपक में अधिक व्यापक, सामाजिक, अवैयक्तिक तथा मानवीय धरातल पर अभिव्यक्त करने की चेष्टा कर व्यक्तिगत जीवन-साधना के प्रति—जिसकी क्षीण प्रति-ध्वनियाँ 'गुंजन' में मिलती हैं—विद्रोह प्रकट किया और अपने परिवेश की

सामाजिक चेतना से असंतुष्ट होकर एक अधिक संस्कृत, सुन्दर एवं मानवोचित सामाजिक जीवन का स्वप्न प्रस्तुत किया।

'ज्योत्स्ना' में मैंने नवीन जीवन तथा युग-परिवर्तन की धारणा को सामाजिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। 'पल्लव'-कालीन जिज्ञासा तथा भावना के कुहासे से निखरकर 'ज्योत्स्ना' का जगत्-जीवन के प्रति नवीन विश्वास, आशा तथा उल्लास लेकर प्रकट होता है। 'युगांत' में मेरा वह विश्वास बाहर की दिशा की ओर भी सक्रिय हो उठता है और विकास-कामी हृदय क्रांति-कामी भी हो जाता है। 'युगांत' की क्रांति-भावना में आवेश है, और है नवीन मनुष्यत्व के प्रति संकेत। नवीन सत्य के प्रति मेरे मन का आकर्षण अधिक वास्तविक बन नवीन मानवता के रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। दूसरे शब्दों में, बाह्य क्रांति के साथ ही मेरा मन अंतः-क्रांति का, नवीन मनुष्यत्व की भावनात्मक उपलब्धि का भी आकांक्षी बन जाता है।

'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,

हे त्रस्त, ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण'—मे जहाँ पिछली वास्तविकता को बदलने के लिए ओजपूर्ण आवेश है वहाँ 'कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली'—में रिक्त डालों को नवीन जीवन-पल्लवों से सौंदर्यमंडित करने का भी आग्रह है।

'गा, कोकिल, बरसा पावक कण
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन'—के साथ ही मैंने
'रच मानव के हित नूतन मन···
हो पल्लवित नवल मानवपन'—भी कहा है। यह क्रांति-भावना, जो आगे चलकर साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई, मेरी युगांत-कालीन रचनाओं में 'ताज', 'कलरव' आदि में अभिव्यक्त हुई है और मानवतावाद की भावना मेरी 'मानव', 'मधुस्मृति' आदि रचनाओं में। 'बापू के प्रति' शीर्षक उस समय की रचना गांधीवाद की ओर मेरे झुकाव की द्योतक है, जो 'युगवाणी' में भूतवाद-अध्यात्मवाद के

समन्वय का प्रारम्भिक रूप धारण कर लेती है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मेरी क्रांति-भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नहीं होती, उसे आत्मसात् कर प्रभावित करने का भी प्रयत्न करती है :

'भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से समासीन अम्लान !'

'मुझे स्वप्न दो', 'मन के स्वप्न', 'आज बनो तुम फिर से मानव,' 'संस्कृति का प्रश्न', 'सांस्कृतिक हृदय' आदि उस समय की अनेक रचनाएँ मेरी समन्वयात्मक सांस्कृतिक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। 'युगवाणी' मेरी सन् '३७-३८ की और 'ग्राम्या' सन् '४० की रचना है, जब प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य में घुटनों के बल चलना सीख रहा था। आगे चलकर प्रगतिवाद ने जिस संकीर्ण दृष्टिकोण को अपनाया उससे अधिकांश हिन्दी-लेखक सहमत नहीं हो सके।

कवि या लेखक अपने युग से प्रभावित होता है; साथ ही अपने युग को प्रभावित भी करता है। छायावादी काव्य वास्तव में भारतीय जागरण की चेतना का काव्य रहा है। उसकी एक धारा राष्ट्रीय जागरण से सम्बद्ध रही है, जिसकी प्रेरणा गांधीजी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता के युद्ध में निहित रही है और दूसरी धारा का सम्बन्ध उस मानसिक दार्शनिक जागरण की भावनात्मक तथा सौंदर्य-बोध-संबध प्रक्रिया से रहा है, जिसका समारंभ औपनिषदिक विचारों तथा पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के प्रभावों के कारण हुआ है।

श्री रामकृष्ण देव के महत् जन्म में, जैसे प्रतीक रूप में, नए भारत ने जन्म लिया था। अनेक शक्तियों से जो भारतीय जीवन तथा मानस में एक प्रकार का निष्क्रिय औदास्य, वैराग्य तथा कार्पण्य छाया हुआ था वह जैसे रामकृष्ण देव के शुभ आगमन से तिरोहित हो गया। जिस प्रकार सरोवर के ऊपर का शैवाल हटा देने से नीचे का निर्मल जल दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार मध्ययुगीन जाड्य की सीमाओं तथा कुहासों से मुक्त होकर भारतीय चेतना का उज्ज्वल मुख मनश्चक्षुओं के सामने निखरकर

प्रत्यक्ष होने लगा। अनेक पौराणिक व्यक्तियों एवं धार्मिक नैतिक मान्यताओं की भूल-भुलैया में खोया हुआ परम्परागत मानस जैसे नवीन तथा स्वतन्त्र रूप से सत्य की खोज करने लगा और उपनिषदों की उन्मेषपूर्ण स्वयंप्रभ मंत्र-दृष्टि से प्रेरणा प्राप्त कर नए आलोक-क्षितिजों में विचरण करने लगा। इस भाव-मुक्ति के नवोल्लास की प्रथम अभिव्यक्ति, नए युग के भारतीय साहित्य में हमें रवीन्द्रनाथ की कविता में मिलती है। मानव-जीवन-सम्बन्धी सत्य के पिटे-पिटाये शास्त्रीय दृष्टिकोण से छुटकारा पाकर युग की चेतना जैसे नवीन सौंदर्यबोध तथा आनन्द की खोज मे नवीन कल्पना के सोपानों पर आरोहण करने लगी। ज्ञान, भक्ति, कर्म, ब्रह्म, विश्व, व्यक्ति आदि सम्बन्धी पथराई हुई एकरस भावनाओं में नवीन प्राणों तथा चेतना का संचार होने लगा। और नए युग की कला, विशेषतः कविता, नवीन भाव-ऐश्वर्य का निःसीम आनन्द-स्वर्ग लेकर प्रकट हुई। इस नई चेतना ने अपने मुक्त प्रवाह में हिन्दी-कविता की भाषा को भी नवीन रूपमाधुर्य प्रदान किया और यह नवीन जागरण की प्रेरणा अपने भाव-वैभव के साथ ही नवीन जीवन-संघर्ष भी लाई, जिसने एक ओर भारतीय मानस में विचार-क्रान्ति पैदा की और दूसरी ओर राजनीति की क्रान्ति—जिसने सदियों से पराधीन इस भारत-भूमि में स्वतन्त्रता के शस्त्रहीन संग्राम को जन्म दिया और मात्र अपने संगठित मनःसंकल्प से अन्त में देश को स्वाधीन भी कर दिया। इस प्रकार भाव-ऐश्वर्य के अतिरिक्त हिन्दी काव्य-चेतना की एक धारा ने सामूहिक कर्म एवं सामाजिक आदर्शों की प्रेरणा देकर प्रगतिशील दृष्टिकोण से नवीन जीवन-मूल्यों का आकलन तथा सृजन किया। खड़ी बोली जागरण की चेतना थी। द्विवेदी युग जिस जागरण का प्रारम्भ था, हमारा युग उसके विकास का समारम्भ था। छायावाद के शिल्प-कक्ष में खड़ी बोली ने धीरे-धीरे सौंदर्य-बोध, पद-मार्दव तथा भाव-गौरव प्राप्त कर प्रथम बार काव्योचित भाषा का सिंहासन ग्रहण किया। गद्य में निखार लाने के लिए उसे अभी और भी साधना तथा तपस्या करनी है। हमारी पीढ़ी एक प्रकार से व्यापक अर्थ में जागरण ही की पीढ़ी रही है। हिन्दी हम लोगों

के लिए मातृभाषा ही नहीं, एक नई चेतना, नई प्रेरणा का प्रतीक बनकर आई थी। देश में सर्वत्र, सभी क्षेत्रों में नवीन जागरण की लहर दौड़ रही थी, नवीन अभ्युदय के चिह्न उदय हो रहे थे; हमने उस जागरण, उस अभ्युदय को हिन्दी ही के रूप में पहचाना था। उसी सर्वतोमुखी सशक्त जातीय अभ्युत्थान की चेतना को वाणी देने के प्रयत्न में हिन्दी का भी कंठ फूटा था; उसने अपनी मध्ययुगीन ब्रजभाषा की तुतलाहट ही को नहीं छोड़ दिया था, उसके भीतर एक सबल भावना का सिन्धु भी हिलोरें लेने लगा था। इस प्रकार हिन्दी हमारे भीतर भाषा के अतिरिक्त एक राष्ट्रीय जागरण, एक सामाजिक प्रेरणा-शक्ति के रूप में—एक मानवीय सौंदर्य-बोध तथा एक नवीन आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुई थी। छायावादी कविता ने सोई हुई भारतीय चेतना की गहराइयों में नवीन रागात्मकता की माधुर्य ज्वाला, नवीन जीवन-दृष्टि का सौंदर्य-बोध तथा नवीन विश्व-मानवता के स्वप्नों का आलोक उँडेला। छायावाद से पहले खड़ीबोली का काव्य, भाव तथा भाषा की दृष्टि से निर्धन ही रहा। छायावाद ने उसमें अँगड़ाई लेकर जागते हुए भारतीय चैतन्य का भाव-वैभव भरा। विश्व-बोध के व्यापक आयाम, लोक-मानव की नवीन आकांक्षाएँ, जीवन-प्रेम से प्रेरित, परिष्कृत अहंता के मांसल सौंदर्य का परिधान उसने पहले-पहल हिन्दी-कविता को प्रदान किया।

यह सब छायावाद के लिए इसलिए सम्भव हो सका कि भारतीय पुनर्जागरण विश्व-सभ्यता के इतिहास के एक और भी महान् लोक-जागरण का अंग बनकर आया था; विश्व-सभ्यता के इतिहास का ही नहीं, वह मानव-चेतना के भी एक महान् सांस्कृतिक क्रान्ति के युग का समारम्भ बनकर उदय हुआ। इसलिए छायावाद में हमें राष्ट्रीय जागरण के मुखर गीतों के अतिरिक्त मानवीय जागरण के गम्भीर स्वप्न, मौन सवेदन-भरे स्वर तथा धरती के जन-जागरण के संघर्ष-मुखर, विद्रोह-भरे स्वर भी एक साथ सुनने को मिलते हैं। प्रगतिशील कविता वास्तव में छायावाद की ही धारा है। दोनों स्वरों में जागरण का उदात्त संदेश मिलता

है—एक में मानवीय जागरण का, दूसरे में लोक-जागरण का। दोनों की जीवन-दृष्टि में व्यापकता रही है—एक में सत्य के अन्वेषण या जिज्ञासा की, दूसरे में यथार्थ की खोज या बोध की। दोनों ही वैयक्तिक क्षुद्र अहंता को अतिक्रम कर प्रवाहित हुई हैं, एक ऊपर की ओर, दूसरी विस्तृत धरातल की ओर। दोनों क्षमतापूर्ण रही हैं—एक अंतर-गांभीर्य की, दूसरी सामाजिक गति की शक्ति से।

छायावाद के रूप-विन्यास पर कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अंग्रेजी कवियों का प्रभाव पड़ा। भावना में महात्माजी के सांस्कृतिक व्यक्तित्व तथा युग-संघर्ष की आशा-निराशा का और विचार-दर्शन में विश्ववाद, सर्वात्मवाद तथा विकासवाद का, जो आगे चलकर, धीरे-धीरे, अधिक वास्तविक भूमि पर उतरकर, जनभूवाद तथा नव-मानववाद में परिणत हो गए। विश्ववाद आदि का प्रभाव छायावादी कवियों ने आरम्भ में मुख्यत: कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अंशत: शेली आदि अंग्रेजी कवियों से ग्रहण किया। रवीन्द्रनाथ का युग विशिष्ट व्यक्तिवाद तथा व्यक्तित्ववाद का युग था। कवीन्द्र विश्व-भावना तथा लोक-मंगल को विशिष्ट मानव-व्यक्तित्व का अग बनाकर ही अपने साहित्य में दे सके। जन-सामाजिकता तथा सामूहिक व्यक्तित्व की कल्पना उनके युग की विचार-सरणी का अंग नहीं बन सकी थी। यंत्र-युग के मध्य-वर्गीय सौंदर्यबोध से उनका काव्य ओत-प्रोत है। किन्तु यंत्र-युग की जन-वादी सौन्दर्य-भावना का उदय तब अपने देश के साहित्य में नहीं हो सका था। जनवादी भावना के विपरीत रवीन्द्र के विचार-दर्शन में यंत्रों के प्रति विरोध की भावना मिलती है, जो मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति की प्रतिक्रिया-मात्र है। श्रीकृष्ण, चैतन्य एवं वैश्ववाद उनकी रचनाओं में आधुनिक रूप धारण कर सर्वात्मवाद बनकर निखरे हैं। सांस्कृतिक धरातल पर उन्होंने वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय भावना का समन्वय मनोविज्ञान, विकास-वाद तथा नृतत्वशास्त्र की दिशा में किया है।

रवीन्द्र महान् प्रतिभा से सम्पन्न होकर आए थे। उन्होने अपने युग की समस्त जागरण की शक्तियों का मनन कर उनके प्राणप्रद तथा स्वास्थ्य-

कर सार-तत्वों का संग्रह अपने अन्तर में कर लिया था; और अनेक छंदों, तालों तथा लयों में अपनी मर्मस्पर्शी वाणी को नित्य-नवीन रूप देकर रूढ़िग्रस्त भारतीय चेतना को अपने स्वर के तीव्र मधुर आघातों से जाग्रत, विमुक्त तथा विमुग्ध कर, उसे एक नवीन आकांक्षा के सौंदर्य तथा नवीन आशा के स्वप्नों से मंडित कर दिया था। भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को उन्होंने पश्चिम के यंत्र-युग के सौंदर्य से मंडित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनों के लिए समान रूप से आकर्षक बना दिया था। इस प्रकार नवीन युग की आत्मा के अनुकूल स्वर-झंकृति प्रस्तुत कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक नवीन सौंदर्यबोध का झरोखा भी कल्पनाशील युवक साहित्यकारों के हृदय में खोल दिया था।

इन्हीं आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा सौंदर्य-बोध-संबंधी भावनाओं से हिन्दी में छायावादी युग के कवि भी प्रभावित हुए, किन्तु उनके युग की पृष्ठभूमि जैसे-जैसे बदलती गई, उनके काव्य-पदार्थ का भी उसी अनुपात में रूपान्तर होता गया। वे सूक्ष्म से स्थूल की ओर, आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर, भाव से वस्तु की ओर, सर्वात्मवाद आदि से भूवाद, जनवाद, मानवतावाद की ओर अग्रसर होते गए। कुछ ने लेखन स्थगित कर दिया, किन्तु अधिकांश लेखकों को विचारों की दृष्टि से, युग की पृष्ठभूमि ने किसी-न-किसी रूप तथा परिमाण में अवश्य प्रभावित किया है। सत्य की खोज में उड़ती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युग-परिवेश, सामाजिक वातावरण तथा वैयक्तिक-सामूहिक परिस्थितियों से प्रभावित एवं घनीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगी। छायावादी कविता केवल रवीन्द्र-काव्य की प्रतिध्वनि ही नहीं रही, उसने अपने युग-जीवन की शक्तियों से स्वतन्त्र रूप से प्रेरणा ग्रहण की।

छायावाद का विकास प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्यवर्ती-काल में हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रायः सर्वत्र ही युग की वास्तविकता के प्रति मनुष्य की धारणा बदल गई। छायावाद ने जो नवीन सौंदर्यबोध, जो आशा-आकांक्षाओं का वैभव, जो विचार-सामंजस्य तथा समन्वय प्रदान

किया था वह पूंजीवादी युग की विकसित परिस्थितियों की वास्तविकता पर आधारित था। मानव-चेतना तब युग की बदलती हुई कठोर वास्तविकता के निकट संपर्क में नहीं आ सकी थी। उसकी समन्वय तथा सामंजस्य की भावना केवल मनोभूमि पर ही प्रतिष्ठित थी। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वह सर्वधर्म-समन्वय, सांस्कृतिक समन्वय, ससीम-असीम तथा इहलोक-परलोक-सम्बन्धी समन्वय की अमूर्त भावना अपर्याप्त लगने लगी, जिससे छायावाद ने प्रारम्भिक प्रेरणा ग्रहण की थी। अनेक कवि तथा कलाकारों की सृजन-कल्पना इस प्रकार के कोरे मानसिक समाधानों से विरक्त होकर, अधिक वास्तविक तथा भौतिक धरातल पर उतर आई और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित होकर प्रगतिवाद के नाम से एक नवीन काव्य-चेतना को जन्म देने में संलग्न हो गई। जिस प्रकार मार्क्स के भौतिकवाद ने अर्थनीति तथा राजनीति-सम्बन्धी दृष्टिकोणों को प्रभावित किया, उसी प्रकार फ्रायड, युंग आदि पश्चिम के मनोविश्लेषकों ने रागवृत्ति-सम्बन्धी नैतिक दृष्टिकोण में एक महान् क्रान्ति उपस्थित कर दी। फलतः छायावादी युग के सूक्ष्म आध्यात्मिक तथा नैतिक विश्वासों के प्रति संदिग्ध होकर तथा पश्चिम की भौतिक तथा जैवी विचारधाराओं से अधिक कम मात्राओं में प्रभावित होकर अनेक प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, प्रतीकवादी कलाकार अपने हृदय के विक्षोभ तथा कुण्ठित आशा-आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देने के लिए संक्रांति-काल की बदलती हुई वास्तविकता से प्रेरणा ग्रहण करने लगे।

सामूहिकता एवं सामाजिकता को प्रधानता देकर व्यक्ति के कल्याण का पथ किस प्रकार प्रशस्त तथा उन्मुक्त किया जा सकता है, यह समस्या छायावाद के द्वितीय चरण के सम्मुख उपस्थित हुई, जिसकी मर्मराहट हमें विद्रोह-भरे अनगढ़ प्रगतिवाद के कवियों में मिलती है। प्रगतिवाद का जीवन-दर्शन भाव-प्रधान तथा वैयक्तिक न रहकर, धीरे-धीरे, वस्तु-प्रधान तथा सामाजिक हो गया, किन्तु इतने व्यापक तथा मौलिक परिवर्तन को प्रगतिवाद ठीक-ठीक समझ सका और अपनी वाणी से सामूहिक विकास

की भावना को ठीक पथ पर अग्रसर कर सका, ऐसा कहना अनुचित होगा। काव्य की दृष्टि से उसका सौंदर्य-बोध पूंजीवादी तथा मध्यवर्गीय भावना की प्रतिक्रियाओं से पीड़ित रहा। उसका भावोद्वेग किसी जनवादी यथार्थ तथा जीवन-सौंदर्य को वाणी देने के बदले केवल धनपतियों तथा मध्यवृत्ति वालों के प्रति विद्वेष और विक्षोभ उगलता रहा। नवीन लोक-मानवता की गम्भीर सशक्त चेतना के जागरण-गान के स्थान पर उसमें नंगे-भूखे श्रमिक-कृषकों के अस्थि-पंजरों के प्रति मध्यवर्ग के आत्मकुण्ठित बुद्धि-वादियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हुंकार-भरा क्रन्दन ही अधिक सुनाई पड़ने लगा। विचार-दर्शन की दृष्टि से, वह नवीन जन-भावना को अभि-व्यक्ति न दे सकने के कारण केवल तात्कालिक परिस्थितियों के कोरे राज-नीतिक नारों को बार-बार दुहराकर उनका पिष्टपेषण-मात्र करता रहा। समीक्षा की दृष्टि से अधिकांश प्रगतिवादी आलोचक साहित्य-चेतना के सरोवर-तट पर राजनीतिक प्रचार का झंडा गाड़े, ऊपर-ही-ऊपर हाथ-पांव मारकर, काई-सने झागों में तैरने का सुख लूटते रहे हैं और छिछले स्थलों से कीचड़ उछालते हुए काव्य की आत्मा को ढककर तथा उसकी रीढ़ को तोड़-मरोड़कर नवदीक्षितों को दिग्भ्रान्त-भर करते रहे हैं।

छायावाद का प्रारम्भिक अस्पष्ट अध्यात्मवादी दृष्टिकोण प्रगतिवाद में धूमिल भौतिकवाद तथा वस्तुवाद बनने का प्रयत्न करने लगा। जिस प्रकार छायावादियों में भागवत या विराट् चेतना के प्रति एक क्षीण-दुर्बल आग्रह, आकुलता तथा बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही है, उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों में जनता तथा जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना तथा निर्बल ललक का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनों ही के मन में सम्यक् साधना, अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट या लक्ष्य की रूपरेखा तथा धारणा निश्चित नहीं बन पाई। एक भीतरी कुहासे में लिपटे रहे, दूसरे बाहरी धुएँ से घिरे रहे। कला की दृष्टि से, प्रगतिवाद के सफल कवि छायावादी शब्दों की रेशमी रंगीनी एवं उपमाओं की अभिनव सुन्दरता का सजीव प्रयोग कर सके।

छंदों की दृष्टि से, संभवतः, उन्होंने अपनी लयहीन भावनाओं तथा क्रुद्ध उद्गारों के लिए मुक्त छंद के रूप में पंक्तिबद्ध गद्य को अपनाना उचित समझा, जिसका प्रवाह उनके बहिर्मुख दृष्टिकोण के अनुरूप ही असम्बद्ध, बिखरा तथा ऊबड़-खाबड़ रहा। अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि-संस्कारिता का स्थान विकृत तथा कुत्सित ने ले लिया। छायावादी भावना का उदार वैचित्र्य सिमटकर उसमें अत्यन्त संकीर्ण मतवाद में बदल गया। किन्तु फिर भी प्रगतिवादियों ने किसी प्रकार अपने गिरते-पड़ते पैर मिट्टी की गर्द-गुबार-भरी व्यापक वास्तविकता की ओर उठाये।

प्रगतिवाद के अतिरिक्त छायावादी काव्य-भावना ने एक और आत्माभिव्यक्ति की पगडण्डी पकड़ी जो पीछे स्वतन्त्र रूप धारण करने पर प्रयोगवादी कविता कहलायी। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्यधारा मार्क्सवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक तर्क-वितर्कों में फँसकर एक किमाकार यांत्रिक सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल-छलछल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वर-संगतिहीन भावना-लहरियों से मुखरित, अवचेतन की रुद्ध ग्रन्थियों को मुक्त करती हुई एवं दमित-कुंठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई, लोक-चेतना के स्रोत में द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक् अस्तित्व पर अडिग जमी रही। छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमें टेकनीक की सूक्ष्मता बन गई। छायावादी शब्द-वैचित्र्य इसमें उक्ति-वैचित्र्य और उसके शाश्वत दृष्टिकोण का स्थायित्व क्षणिक का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियों तथा संदेहवादिता के कारण इसकी सौंदर्य-भावना अपने निम्न स्तर पर केंचुओं-घोंघों के सरीसृप जगत् में अनुप्राणित रही, जो वास्तव में पश्चिम की आधुनिकतम ह्रासोन्मुखी संस्कृति तथा साहित्य का प्रभाव है। इस प्रकार छायावाद के अन्तर्गत उसकी जीवन-सौंदर्यवादी काव्यधारा आज अपनी अतिवैयक्तिक-उपचेतनग्रस्त भावना, आत्मदया-पीड़ित अहंता तथा रूप-कारिता एवं साज-सँवार-सम्बन्धी अति आग्रह के कारण प्रयोगवाद के रूप

में विकीर्ण हो रही है। उसमें अब वह मानववादी व्यापकता, उदात्तता, वह अन्तःस्पर्शी अन्तर्भेदी दृष्टि की गहराई, वह लोकोभ्युदय की अभीप्सा तथा जागरण के सन्देश का प्रकाश नही देखने को मिलता। उसमें उर्दू शायरी की-सी बारीकियों, रीतिकालीन स्वरैक्यपूर्ण चित्रणों, अत्युक्तियों, भेदोपभेदों की विचित्रताओं तथा सस्ती अहंजन्य अपसाधारणताओं के कारण सभी ओर से ह्रास के चिह्न प्रकट होने लगे हैं।

नयी कविता इन दोषों से कुछ हद तक अपने को मुक्त कर सकी है, पर वह अधिकतर 'कला के लिए कला' वाले सौंदर्यवादी सिद्धान्त की प्रतिध्वनि-मात्र रह गई है। इस समय उसका सर्वाधिक आग्रह रूप-विधान एवं शिल्प के प्रति प्रतीत होता है। भाव-पक्ष को वह वैयक्तिक निधि या सम्पत्ति मानती है। भावना की उदात्तता, सार्वजनिक उपयोगिता एवं अर्थ-गांभीर्य की ओर वह अधिक आकृष्ट नहीं। भावों एवं मान्यताओं की दृष्टि से वह अभी अपरिपक्व, अनुभवहीन तथा अमूर्त ही है। वह अपने चारों ओर की परिस्थितियों के अँधेरे तथा मानसिकता के कुहासे में कुछ टटोल भर रही है। सत्य से अधिक उसकी आस्था क्षण के बदलते हुए यथार्थ ही में है और टटोलने के ही भावुक सुख-दुख भरे प्रयत्न को वह अधिक महत्त्व देती है। लक्ष्य से अधिक मूल्य वह लक्ष्य के अनुसंधान की व्यथा को देती है। इसी से उसके मानस में रस का संचार होता है, जो उसकी किशोर प्रवृत्ति है। ऐसा भाव या वस्तु-सत्य, जिसका मानव-जीवन के कल्याण के लिए उपयोग हो सके, उसे नहीं रुचता। वह उसकी काव्यगत मान्यताओं के भीतर समा भी नहीं सकता। वह तो साधारणीकरण की ओर बढ़ना हुआ। उसे विशेषीकरण से मोह है। वह प्रतीकों, बिम्बों, शैलियों और विधाओं को जन्म दे रही है, वह अति वैयक्तिक रुचियों की तथ्य-शून्य तथा आत्म-मुग्ध कविता है। आज जो एक सर्वदेशीय संस्कृति, विश्व-मानवता आदि का प्रश्न साहित्य के सम्मुख है, उसकी ओर उसका रुझान नहीं। उसकी मानवता वैयक्तिक और कुछ अर्थों में अतिवैयक्तिक मानवता है। सामाजिक दृष्टि से वह समाजीकरण के विरोध में आत्म-रक्षा तथा व्यक्ति-

गत अधिकारों के प्रति सचेष्ट तथा सन्नद्ध मानवता है।

छंदों की दृष्टि से नयी कविता ने किसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रयोग नहीं किए हैं। अधिकतर छदों का अंचल छोड़कर तथा शब्द-लय को न सँभाल सकने के कारण वह अर्थ-लय अथवा भाव-लय की खोज में लय-हीन, स्वर-संगीतहीन गद्यबद्ध पंक्तियों को काव्य के लिबास में उपस्थित कर रही है, जो बहुधा भावाभिव्यक्ति को सहायता पहुँचाने में असमर्थ प्रतीत होती है। रूप और भावपक्ष की अपरिपक्वता के कारण अथवा तत्सम्बन्धी दुर्बलता को छिपाने के लिए वह शैलीगत शिल्प को ही अधिक महत्त्व देती है और व्यक्तिगत होने के कारण शैली एक ऐसी वस्तु है कि उसकी दुहाई देकर एक कृतिकार कुछ अंशों तक सदैव अपनी रक्षा कर सकता है।

छायावाद ने हिन्दी-छंदों की प्रचलित प्रणाली को आमूल बदल दिया था। आमूल शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूँ कि छायावादी कवियों ने छंदों में मात्राओं से अधिक महत्त्व उसके प्रसार तथा स्वर-संगति को दिया। उन्होंने कई प्रचलित छंदों को अपनाते हुए भी, उनके पिटे-पिटाये यति-गति में बँधे रूप को स्वीकार न कर, उनमें प्रसार की दृष्टि से नये प्रयोग कर दिखाए! स्वर-संगति का भी उनकी कविताओं में अद्‌भुत चमत्कार मिलता है। इन कारणों से छंद उनके हाथों से बिलकुल नये होकर निखरे। वैसे एक ही रचना में कम-अधिक मात्राओं की पंक्तियों का उपयोग कर उन्होंने गति तथा लय-वैचित्र्य की सृष्टि तो की है—जिसे आज नये कवि भी महत्त्व देते हैं—पर उससे भी अधिक छंद-सृष्टि को उनकी देन रही है स्वर-संगति-संबंधी वैचित्र्य की। मात्रिक तथा लय-छंदों के अतिरिक्त छायावादी युग में आलापोचित, अक्षर-मात्रिक मुक्त छंदों का भी बहुतायत से प्रयोग हुआ है। आधुनिकतम कविता में, मुक्त छंदों में, प्रायः अधिक बिखराव आ जाने के कारण वे गद्यवत् तथा विश्रृंखल लगते हैं। छंदों के अतिरिक्त छायावाद-युग में अलंकरण-संबंधी रूढ़िगत दृष्टिकोण में भी भारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। उपमा-रूपक आदि के रहते हुए भी उनकी रीतिकालीन एकस्वरता तथा द्विवेदी-युगीन समस्वरता में नवीन सौंदर्य के लक्षण प्रकट

हुए, और शब्दालंकार केवल प्रसाधन तथा सामंजस्य-द्योतक उपकरण न रहकर, भावों की अभिव्यक्ति में घुल-मिलकर, उसका अनिवार्य अंग हो गए तथा अधिक मार्मिक एवं परिपूर्ण होकर नवीन सौदर्य के प्रतीक बन गए। सौंदर्यबोध—जो रूपविधान और भाव-बोध दोनों का प्रतिनिधित्व करता है—वह, जैसे, छायावादी युग की सर्वोपरि देन है जिसने हमारे रूढ़ि-रीतियों के ढाँचे में बँधे हुए इतिवृत्तात्मक जीवन के विवर्ण मुख से विषाद की निष्प्रभ छाया उठाकर उस पर नवीन मोहिनी डाल दी।

छायावादी काव्य-चेतना का संघर्ष मुख्यतः मध्ययुगीन निर्मम, निर्जीव जीवन-परिपाटियों से था जो कुरूप छाया तथा घिनौनी काई की तरह युग-मानस के दर्पण पर छायी हुई थीं और क्षुद्र, जटिल, नैतिक सांप्रदायिकता के रूप में आकाश-लता की तरह लिपटकर मन में आतंक जमाये हुए थीं। दूसरा संघर्ष छायावादी चेतना का था, उपनिषदों के दर्शन के पुनर्जागरण के युग में उनका ठीक-ठीक अभिप्राय ग्रहण करने का। ब्रह्म, आत्मा, प्राण, विद्या, अविद्या, शाश्वत, अनंत, क्षर, अक्षर, सत्य आदि मूल्यों एवं प्रतीकों का अर्थ समझकर, उन्हें युग-मानस का उपयोगी अंग बनाना और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनके बाहरी विरोधों को सुलझाकर उनमें सामंजस्य बिठाना—ये सब अत्यन्त गम्भीर और आवश्यक समस्याएँ थीं, जिनकी भूलभुलैया से बाहर निकल, कृतिकार को मुक्त रूप से सृजन कर तथा सदियों से निष्क्रिय, विषण्ण एवं जीवन-विमुख लोक-मानस को आशा, सौंदर्य, जीवन-प्रेम, श्रद्धा, आस्था आदि का भाव-काव्य देकर, उसमे नया प्रकाश उँडेलना था। छायावाद मुख्यतः प्रेरणा का काव्य रहा और इसीलिए वह कल्पना-प्रधान भी रहा। कल्पना का, पलायन से भिन्न, उच्च अर्थ में प्रयोग छायावादी काव्य में ही हो सका है। वह भीतर की वास्तविकता से उलझा रहा। उसने व्यक्तिगत रुचि-विमूढ़ मानव-भावनाओं को वाणी न देकर युग के व्यक्तित्व तथा व्यापक मनुष्यत्व का निर्माण करने का प्रयत्न किया।

छायावादी छंदों में आत्मान्वेषण की शान्त, स्निग्ध अन्तःस्वर-संगति है, जो अपने दुर्बल क्षणों में प्रेरणाशून्य, कोरा कोमल पद-लालित्य बनकर

रह जाती है। प्रगतिवादी छंदों मे सामूहिक आन्दोलन का जागरण, कोलाहल तथा स्पन्दन-कम्पन है, जो अधिकतर खोखली हुंकार तथा तर्जन-गर्जन बनकर रह जाता है। प्रयोगवादी छंदों मे एक नींद-भरी करुण स्वप्न-मर्मर है, जो प्राय: आत्म-दया एवं आत्म-व्यथा में द्रवित होकर भावुक उच्छ्वासों की निरर्थक सिसकियों में डूब जाता है। छायावादी प्रेम-काव्य सौंदर्य-भावना-प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणय-काव्य राग-मूलक। अपने स्वस्थ रूप मे छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा है, प्रगतिवाद एक नवीन वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध में व्यक्ति के सूक्ष्म गहन वैचित्र्य से भरी अहंता तथा रुग्ण कुण्ठा को। काव्य की ये तीनों धाराएँ, आज की युग-चेतना के ऊर्ध्व, व्यापक, गहन संचरणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही हैं और तीनों अभिन्न रूप से संपृक्त हैं।

मैंने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को छायावाद की उप-शाखाओं के रूप में इसलिए माना है कि मूलत: ये तीनों धारणाएँ एक ही युग-चेतना अथवा युग-सत्य से अनुप्राणित हुई हैं। उनके रूप-विधान तथा भावना-सौष्ठव में कोई विशेष अन्तर नहीं और अपने विचार-दर्शन में भी वे भविष्य में एक-दूसरे के निकट आ जाएँगी। ये तीनों धाराएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। आज के संघर्ष-निरत विकासगामी युग में हम मानव-जीवन में एक नवीन संतुलन चाहते हैं। अपनी वैयक्तिक और सामाजिक धारणाओं में नवीन समन्वय चाहते हैं। अपने भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ को परस्पर सन्निकट लाना चाहते हैं। अपनी रागात्मक वृत्ति (प्रेय) तथा लोक-जीवन के प्रति अपने उत्तरदायित्व (श्रेय) में नया सामंजस्य चाहते हैं। हमारी यही मूल-भूत आकांक्षाएँ आज हमारे साहित्य में विभिन्न अनुरंजनाओं तथा अति-रंजनाओं के साथ अभिव्यक्ति पा रही हैं। इस प्रकार जिस काव्य-संचरण का समारम्भ अपने विशिष्ट भावनात्मक दृष्टिकोण तथा अमूर्त रूप-शिल्प के कारण छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसकी मैं भविष्य में अनेक रूपों में नवीन सम्भावनाएँ देखता हूँ। वह हमारे विकासशील युग की भाव,

विचार तथा सौंदर्य-सम्पदा को और विकसित मानव-मूल्यों के बहिरंतर के वैभव का पूर्णतम अभिव्यक्ति देने में सफल तथा समर्थ हो सकेगा।

अपने युग के काव्य-साहित्य की पृष्ठभूमि का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना इसलिए आवश्यक हो गया है कि मैं आपके सम्मुख यह स्पष्ट कर सकूँ कि मेरी काव्य-रुचि या संस्कार का निर्माण करने में किन शक्तियों का हाथ रहा तथा मेरी काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं को किस सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक जागरण की व्यापक चेतना ने प्रेरित एवं प्रभावित किया। मेरी प्रिय-अप्रिय की भावना व्यक्तिगत रुचि से बाधित न रहकर जीवन-मान्यताओं-सम्बन्धी दृष्टिकोण से ही परिचालित रही है। सामाजिक, ऐतिहासिक दर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप मेरा जीवन-दृष्टिकोण आमूल परिवर्तित नहीं हो गया था, जैसा कि मेरे आलोचकों को तब प्रतीत हुआ—मेरी जीवन-दृष्टि अधिक व्यापक हो गई, अर्थात् आदर्श के अन्तर्मुख-चिन्तन के साथ मेरे मन ने यथाथ के बहिर्मुख आग्रह को भी स्वीकार कर लिया। जीवनादर्श के प्रति मेरा प्रेम वैसा ही बना रहा, किंतु उसकी प्राप्ति के लिए, उसके विकास के अंग के रूप में—वस्तु-जगत् के संघर्ष को भी मेरा मन समझने लगा, तथा उसकी यथार्थता को भी महत्त्व देने लगा। किन्तु यह सब होने पर भी आदर्श तथा यथार्थता के बीच व्यवधान मेरे भीतर बना ही रहा। मेरी चेतना तब इतनी विकसित, सशक्त एवं परिपक्व नहीं हो सकी थी कि वह आदर्श और यथार्थ को एक ही मानव-सत्य के—समग्र सत्य के—परस्पर पूरक अंगों के रूप में देख सके अथवा ग्रहण कर सके।

अब मैं अपनी काव्य-चेतना के विकास के एक अत्यन्त आवश्यक मोड़ या स्थिति के बारे में कहने जा रहा हूँ, जहाँ से 'स्वर्णकिरण'-युग का आरंभ होता है, जिसे आप मेरे चेतना-काव्य का युग भी कह सकते हैं। यह 'ग्राम्या' से पाँच वर्ष के बाद का समय है। इस बीच मेरे मन में 'ज्योत्स्ना' और 'ग्राम्या' की चेतनाओं का—आदर्श और यथार्थ की चिन्तन-धाराओं का—संघर्ष तथा मंथन चलता रहा। और इसी का परिपाक 'स्वर्णकिरण' की विकसित जीवन-चेतना के रूप में हुआ, जिसको मैंने अपनी 'स्वर्णोदय'

नामक रचना में तथा 'वाणी' की 'आत्मिका' शीर्षक रचना में अधिक परिपक्व-रूप में अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है।

'स्वर्णकिरण' में मैंने मानवता के व्यापक सांस्कृतिक समन्वय की ओर ध्यान आकृष्ट किया है :

'भू-रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व इतिहास में उदित,
सहिष्णुता सद्भाव शांति से हों गत संस्कृति धर्म समन्वित !
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम मानवता को करे न खंडित,
बहिर्नयन विज्ञान को महत् अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित !
सस्मित होगा धरती का मुख, जीवन के गृह प्रांगण शोभन,
जगती की कुत्सित कुरूपता सुषमित होगी, कुसुमित दिशि क्षण !
विस्तृत होगा जन मन का पथ, शेष जरा का कटु संघर्षण,
संस्कृति के सोपान पर अमर सतत बढ़ेंगे मनुज के चरण !'

'वाणी' में मैंने मानव-जीवन के प्रति विगत युगों के सीमित दृष्टिकोण को अतिक्रम कर नवीन जीवन-चेतना के धरातल पर सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है :

'नव मानवता को निःसंशय होना रे अब अन्तःकेन्द्रित
जन भू-स्वर्ग नहीं युग सम्भव बाह्य साधनों पर अवलम्बित ।
वैयक्तिक सामूहिक गति के दुस्तर द्वन्द्वों में जग खण्डित
ओ अणुमृत जन, भीतर देखो, समाधान भीतर, यह निश्चित !'
'आज विशेषीकरण, समाजीकरण साथ चल रहे धरा पर,
महत् धैर्य से गढ़ने सबको मन के मन्दिर जीवन के घर !
यह दीक्षा का युग न कला में—वृहत् लोक शुभ से हो प्रेरित,
भू रचना के स्वर्णिम युग के कला शिल्प स्वर शब्द हों अमित ।'
'भू पर संस्कृत इन्द्रिय जीवन मानव आत्मा को रे अभिमत
ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी, संन्यासी, जीवन से उपरत ।
आत्मा को प्राणों से बिलगा अधिदर्शन ने की जग की क्षति
ईश्वर के संग विचरे मानव भू पर, अन्य न जीवन परिणति !

अपने इस नवीन काव्य-संचरण में मैंने मध्ययुगीन आध्यात्मिकता तथा आदर्शवाद की चेतना को नवीन लोक-चेतना का स्वरूप देने का प्रयत्न कर उसकी निष्क्रियता को सक्रियता प्रदान करने की, उसकी वैयक्तिकता को उन्नत सामाजिकता में परिणत करने की चेष्टा की है। मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव चेतना के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है और भौतिक, आध्यात्मिक अतिरंजनाओं का विरोध कर भौतिकता-आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर उन्हें लोक-कल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में, एक-दूसरे के पूरक के रूप में संयोजित करना चाहा है। अपने नवीन प्रगीतों में मैंने मनुष्य के लिए नवीन सांस्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलाई है और उसे नवीन रागात्मक संवेदनों तथा नवीन प्रकाश के स्पर्शों में अनुप्राणित करने का प्रयास किया है।

'स्वर्णकिरण' और उसके बाद की मेरी काव्य-दृष्टि को मेरे आलोचकों ने समन्वयवादी जीवन-दर्शन कहकर सन्तोष कर लिया है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि उसके पुष्कल चैतन्य की उन्होंने जान-बूझकर उपेक्षा की है। नहीं, उसकी ओर उन्होंने सम्भवतः यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है और उसे समझने की प्रेरणा का भी अभी उदय नहीं हुआ है। इसका एक कारण, और सम्भवतः मुख्य कारण, यह है कि वर्तमान सांस्कृतिक ह्रास तथा राजनीतिक उत्थान-पतन के युग में मानव-चेतना, और विशेषतः बुद्धिजीवियों एवं कलाकारों का भाव-प्रवण संवेदनशील हृदय, प्राणिक जीवन-वृत्तियों के उच्छ्वासों तथा भावनाओं के उपचेतन स्तरों में ऐसा उलझ गया है कि उन गुहाओं के घने अन्धकार को नवीन चैतन्य के स्वर्णिम प्रकाश से विगलित होने में समय लगेगा। सम्भवतः समय आने पर, 'स्वर्णकिरण' के युग की मेरी रचनाएँ—जिसमे मेरी इधर की सभी रचनाएँ सम्मिलित हैं—पाठकों एवं आलोचकों का ध्यान अधिक आकृष्ट कर सकेंगी और उनके लिए अधिक न्याय हो सकेगा। मैं उसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि उनमें केवल समन्वयवादी या अध्यात्मवादी बौद्धिक दर्शन ही

नहीं है, उनमें मेरी समस्त जीवन-अनुभूतियों का—'ग्राम्या' की हरीतिमा का भी—निचोड़ है, उसमें जीवन-सौंदर्य के परिधान में मूर्त नवीन, जीवंत मानव-चैतन्य भी है, जिसको अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति 'वाणी' के अन्तर्गत मेरी 'आत्मिका' शीर्षक रचना में मिल सकी है।

नयी चेतना के बारे में उसमें मैंने इस प्रकार कहा है।

'कोटि सूर्य जलते रे उज्ज्वल उस मानव पर्वत के भीतर
मनुष्यत्व नव बहिर्दीप्त वह अंत:संस्कृत, आत्म मनोहर!
लोक-प्रेम वह, मनुज-हृदय वह, इन्द्रिय-मन जिसमें संयोजित
अणु विनाश को अतिक्रम कर वह निज रचना-प्रियता में जीवित!

यह एक इतना विराट् तथा विश्वव्यापी चेतनात्मक क्रांति का युग है कि मानव-मन उसके महत्त्व को अभी पूर्णत: ग्रहण नही कर पाया है—यह महत् अंत:क्राति, जो मानव-जीवन में एक महान् परिवर्तन तथा रूपान्तर उपस्थित कर सकेगी, अभी केवल विकास के पथ में है। मैंने 'उत्तरा' के गीतों में इस ओर संकेत किया है—उसका सूक्ष्म सांस्कृतिक ऐश्वर्य, मनो-वैभव तथा जीवन-सौंदर्य अभी सम्पूर्णत: प्रस्फुटित होकर मनुष्य के भीतर अवतरित नहीं हो सका है।

आज के युग में कविता को केवल वादों, बौद्धिक दर्शनों, सामूहिक नारों, अवचेतन के वैचित्र्य-भरे, अपरूप उच्छ्वासों एवं उद्गारों के रूप ही में देखना उसके प्रति अन्याय करना है। जुगनुओं की पंक्तियों की भाँति मानव-मन की विषण्ण गहराइयों में जगमगाती हुई, रीढ़हीन, फूल-पत्तियों की बेलों की तरह धरती से चिपकी हुई, या बेल-बूटों की तरह कढ़ी हुई सतरें और जिस तथ्य को भी वाणी देती हों वे निश्चय ही नये युग के नये मानव-चैतन्य अथवा नये मानव-सत्य को अभिव्यक्त नहीं करतीं, इसमें मुझे रत्ती भर सन्देह नहीं। सम्भवत: यह कविता के विश्राम ग्रहण करने का समय है। नया मानव-चैतन्य अंतर्मुखी होकर अपने लिए नवीन भाव-भूमि, नवीन सौन्दर्य-वाणी, नवीन माधुर्य-रस तथा इन्द्रिय-आनन्द का स्पर्श खोज रहा है।

यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है कि हमने इस विराट् युग में जन्म लेकर, साहित्य के क्षेत्र में, इन नव-नवोन्मेषिणी भाव-शक्तियों को धारण तथा वहन करने का गौरव प्राप्त किया है। स्वर्ग से नरक तक के स्तर आज के युग में आन्दोलित हो उठे हैं। मानव-जाति की सर्वोच्च मान्यताओं के शिखर पर निश्चेतन मन के अन्धकार-भरे गह्वर आज नवीन आलोक की रेखाओं तथा नवीन प्राणों के स्पर्श से उन्मीलित हो रहे हैं। आज हम देश, जाति, वर्ग आदि सबकी सम्मिलित संश्लिष्ट इकाई को विश्व-जीवन में, नवीन मानवता के रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयत्नों में संलग्न है। मेरे युग की जो काव्य-चेतना राष्ट्रीय जागरण के बाह्य प्रभावों से जाग्रत होकर, पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति के स्पर्शों से सौन्दर्य-बोध ग्रहण कर, भारतीय चैतन्य के अभिनव आलोक से अनुप्राणित होकर, क्रमशः, प्रस्फुटित एवं विकसित हुई थी, आज वह अनेक भावनाओं तथा विचारों के धरातलों को पार कर, मानव-मन की गहनतम तलहटियों तथा उच्चतम शिखरों के छाया-प्रकाश का समावेश करती हुई, अधिक प्रौढ़ एवं अनुभव-पक्व होकर, मानव-जीवन के मगलमय उन्नयन एवं मानव-जाति के परस्पर सम्मिलन के स्वर्ग के निर्माण में अविरत रूप से साधनारत है। आज की काव्य-चेतना अनेक युगों को पार कर नवीन युग में प्रवेश कर रही है। यह उसके लिए अत्यन्त सकट तथा संघर्ष का युग है। आज स्वप्न और वास्तविकता, सत्य और यथार्थ एक-दूसरे के विरोध में खड़े, एक अधिक व्यापक एवं समुन्नत जीवन-सत्य की चरितार्थता में सयोजित होने की प्रतीक्षा कर रहे है। आज मानव-क्षमता तथा मानव-दुर्बलता एक-दूसरे को चुनौती दे रही हैं। आज धरा-सृजन और विश्व-संहार आमने-सामने खड़े ताल ठोक रहे है।

इन्हीं विचारों तथा भावनाओं को मैंने अपने इधर के काव्य में इस प्रकार वाणी दी है :

'भूखंडों में भग्न, बहिर्मुखी युग मानव का मन
स्थापित स्वार्थों से खंडित मानव-आत्मा का हत प्रांगण !

देश खंड से भू-मानव का परिचय देने का क्या क्षण यह ?—
मानवता में देश जाति हों लीन, नये युग का सत्याग्रह !'
'व्यक्ति विश्व के संघर्षण से निखर उठा मन में नव मानव
जो विकास-पथ में अब भू पर अन्तर में ले अक्षय वैभव !
जन्म पीढ़ियों में ले नव-नव मर्त्य अमर को होना विकसित,
भू जीवन मन को अतिक्रम कर स्वर्ग धरा पर रचना जीवित !'
'जन भू पर निर्मित करना नव जीवन बहिरंतर संयोजित,
मनुज धरा को छोड़ कहीं भी स्वर्ग नहीं सम्भव यह निश्चित !'

कलाकार को अपने अन्तर्विश्वास के शिखर पर अविचल खड़ा रहकर, मानव अंतश्चैतन्य से प्रकाश ग्रहण कर, स्वप्न और कल्पना के ही उपादानों से सही, महत्तम मानव-भविष्य का निर्माण करना है और धरती के मानस को—पिछली मान्यताओं एव परिस्थितियों का कल्मष-कर्दम धोकर—उसे नवीन जीवन-चैतन्य के सौंदर्य से मंडित कर मानवीय एवं स्वर्गोपम बनाना है। मानव अहन्ता के तुषानल के ताप से बिना झुलसे, उसे अपने फूलों के हँसते हुए चरण आगे बढ़ाने है और स्वप्नो की अमूर्त अंगुलियों के कोमल-तम स्पर्शो से छूकर भू-मानव के मन की निर्मम जड़ता को द्रवीभूत करना है। साहित्यकार की वाणी की उपयोगिता, महत्ता तथा उत्तरदायित्व इस युग में जितना अधिक बढ़ गया है, उतना शायद इधर मानव-इतिहास के किसी युग में नहीं बढ़ा था। आज उसे धरती के विशृंखल जीवन को नये छन्द में बाँधना है—मनुष्य की बौद्धिक अनास्थाओं को अतिक्रम कर उसके भीतर नवीन हृदय की रचना करनी है। युग-परिस्थितियों के घोर अंधकार से प्रकाश खींचकर उसे दुःस्वप्नों से आतंकित मानव के मानस-क्षितिज में नया अरुणोदय लाना है।

आज के महासंक्रान्ति के युग में मुझे प्रतीत होता है कि मेरे भीतर मेरे उदयकाल में जिस किशोर कवि ने वीणा के गीत गुनगुनाए थे, आज वह अपना सर्वस्व गँवाकर केवल आज के विश्व-जीवन का तथा भविष्य के अंतरिक्ष में मुसकराती हुई नवीन मानवता का विनम्र स्वर-सौम्य संदेश-

वाहक एवं दूत-भर रह गया है, उसकी क्षीण कंठ-ध्वनि आज के तुमुल कोलाहल में लोगों को सुनाई देगी कि नहीं, मैं नहीं जानता।

विज्ञान और साहित्य—विशेषत: काव्य-साहित्य—ही लोक-मंगल का पथ ग्रहण कर, अपनी असीम स्थूल-सूक्ष्म शक्तियों की सम्भावनाओं से, आज मानव-जगत् तथा मन का बहिरंतर एवं पुनर्निर्माण कर इस युग के नरक को नये स्वर्ग का रूप दे सकते हैं, इसमें रत्ती-भर सन्देह नहीं। हमारे युवकों तथा छात्रों को मानव-चेतना के नवीन प्रकाश का सन्देशवाहक बनकर आज धरती के पथरिये मन में अपने नवीन रक्त का संगीत स्पंदन, तरुण हृदयों के स्वप्नों का जागरण तथा अदम्य प्राणों का सौंदर्य एवं ऐश्वर्य भरना है—मानवता के प्रति वे अपने इस अमूल्य दायित्व को न भूलें।

—सुमित्रानंदन पन्त

संवर्धित संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में मैंने अनेक नवीन रचनाएं जोड़कर इसे परिपूर्ण बना दिया है। इसमें मैंने सन् ६९ तक की रचनाओं का संचयन कर दिया है जिससे पाठकों को मेरे अधुनातन कृतित्व का रस मिल सके।

—सुमित्रानंदन पंत

१८/७ बी, के० जी० मार्ग,
इलाहाबाद
२५-१०-६९

याचना

बना मधुर मेरा जीवन !
नव-नव सुमनों से चुन-चुन कर
धूलि, सुरभि, मधुरस, हिमकण,
मेरे उर की मृदु कलिका में
भर दे, कर दे विकसित मन !

बना मधुर मेरा भाषण !
वंशी से ही कर दे मेरे
सरल प्राण औ' सरस वचन,
जैसा जैसा मुझको छेड़ें,
बोलूं अधिक मधुर, मोहन,
जो अकर्ण अहि को भी सहसा
कर दे मंत्र-मुग्ध, नत फन,
रोम रोम के छिद्रों से माँ !
फूटे तेरा राग गहन !
बना मधुर मेरा तन मन !

१६१६]

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि,
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल-विहंगिनि !
पाया, तूने यह गाना ?

सोई थी तू स्वप्न नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर,
झूम रहे थे, घूम द्वार पर,
प्रहरी-से जुगनू नाना !
शशि किरणों से उतर-उतरकर
भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना !
स्नेहहीन तारों के दीपक,
श्वास-शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,
तम ने था मंडप ताना !

कूक उठी सहसा तरु वासिनि,
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुमको अंतर्यामिनि,
बतलाया उसका आना ?

निकल सृष्टि के अंध गर्भ से
छाया तन बहु छायाहीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना माना !

छिपा रही थी मुख शशि बाला
निशि के श्रम से हो श्रीहीन,
कमल क्रोड़ में बंदी था अलि,
कोक शोक से दीवाना !
मूर्च्छित थीं इन्द्रियाँ, स्तब्ध जग,
जड़ चेतन सब एकाकार
शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना-जाना !

तूने ही पहले बहु दर्शिनि,
गाया जागृति का गाना,
श्री सुख सौरभ का नभ चारिणि,
गूँथ दिया ताना-बाना !

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति-पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत्-जाल मे
धर कर नाम रूप नाना !
सिहर उठे पुलकित हो द्रुम दल,
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का-सा दाना !
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि,
जगी सुरभि, डोले मधु बाल,
स्पंदन कंपन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना;

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि,
तूने कैसे पहचाना ?

कहाँ-कहाँ हे बाल-विहंगिनि !
पाया यह स्वर्गिक गाना ?

१९१९]

ग्रंथि से

वह मधुर मधुमास था, जब गंध से
मुग्ध होकर झूमते थे मधुप दल;
रसिक पिक से सरस तरुण रसाल थे,
अवनि के सुख बढ़ रहे थे दिवस-से !
जानकर ऋतुराज का नव आगमन
अखिल कोमल कामनाएँ अवनि की
खिल उठी थीं मृदुल सुमनों में कई
सफल होने को अवनि के ईश से !

अस्तमित निज कनक किरणों की तपन
चरम गिरि को खींचता था कृपण-सा,
अरुण आभा में रँगा था वह पतन
रजकणों-सी वासनाओं से विपुल !
तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में,
सांध्य निःस्वन-से गहन जल गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय हो गया !
बुदबुदे जिन चपल लहरों में प्रथम
गा रहे थे राग जीवन का अचिर,
अल्प पल, उनके प्रबल उत्थान में
हृदय की लहरें हमारी सो गईं !

जब विमूर्च्छित नींद से मैं था जगा
(कौन जाने, किस तरह ?) पीयूष-सा
एक कोमल समव्यथित निःश्वास था
पुनर्जीवन-सा मुझे तब दे रहा !
शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर,
शशि-कला-सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान मुख मेरा, अचल,
सदय, भीरु, अधीर, चिन्तित दृष्टि से !

इन्दु पर, उस इन्दु मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से
लाज से रक्तिम हुए थे;—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था !
बाल-रजनी-सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में,
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में !

एक पल, मेरे प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय-सम्बन्ध था !
लाज की मादक सुरा-सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब-से,
छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से सीप-से !

(इन गढ़ों में—रूप के आवर्त-से—
घूम-फिरकर, नाव-से किसके नयन

है नहीं डूबे, भटक कर, अटक कर,
भार से दब कर तरुण सौन्दर्य के ?)
सुभग लगता है गुलाब सहज सदा
क्या उषामय का पुनः कहना भला ?
लालिमा ही से नहीं क्या टपकती
सेब की चिर-सरसता, सुकुमारता ?
पद नखों को गिन, समय के भार को
जो घटाती थी भुलाकर, अवनितल
खुरच कर, वह जड़ पलों की धृष्ठता
थी वहाँ मानो छिपाना चाहती !

इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की वीचि में
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल
सुमन की स्मिति में, लता के अधर में !
निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से मृगाक्षी ने उठा,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप-सी !

प्रथम केवल मोतियों को हंस जो
तरसता था अब, उसे सर सलिल में
कमलिनी के साथ क्रीड़ा की सुखद
लालसा पल-पल विकल थी कर रही !
रसिक वाचक ! कामनाओं के चपल,
समुत्सुक, व्याकुल पगों से प्रेम का
कृपण वीथी में विचर कर कुशल से
कौन लौटा है हृदय को साथ ला ?

१९२०]

पर्वत प्रदेश में पावस

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश,
पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश !

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार,

—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल !

गिरि का गौरव गाकर झर्-झर्
मद में नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों-से सुन्दर
झरते हैं झाग-भरे निर्झर !

गिरिवर के उर से उठ-उठकर
उच्चाकांक्षाओं - से तरुवर
है झाँक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर !

—उड़ गया, अचानक, लो भूधर,
फड़का अपार वारिद के पर !
रव शेष रह गए हैं निर्झर !
है टूट पड़ा भू पर अम्बर !

धँस गए धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल !
—यों जलद यान में विचर-विचर
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल !

(वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर)
इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी;
सरल शैशव की सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी !

१६२१]

आँसू की बालिका

एक वीणा की मृदु झंकार !
कहाँ है सुन्दरता का पार !
तुम्हें किस दर्पण में सुकुमारि !
दिखाऊँ मैं साकार !
तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा-स्नान,
तुम्हारी वाणी में, कल्याणि,
त्रिवेणी की लहरों का गान !

अपरिचित चितवन में था प्रात
सुधामय साँसों में उपचार
तुम्हारी छाया में आधार,
सुखद चेष्टाओं में आभार !
करुण भौंहों में था आकाश
हास में शैशव का संसार,
तुम्हारी आँखों में कर वास,
प्रेम ने पाया था आकार !

कपोलों में उर के मृदु भाव,
श्रवण नयनों में प्रिय बर्ताव,
सरल संकेतों में संकोच
मृदुल अधरों में मधुर दुराव !
उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास,
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों के साँस !
बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त,
एक स्वर मे समस्त संगीत;
एक कलिका में अखिल वसन्त,
धरा में थीं तुम स्वर्ग पुनीत !

विधुर उर के मृदु भावों से
तुम्हारा कर नित नव शृंगार,
पूजता हूँ मैं तुम्हें कुमारि !
मूँद दुहरे दृग द्वार !
अचल पलकों में मूर्ति सँवार
पान करता हूँ रूप अपार;
पिघल पड़ते हैं प्राण
उबल चलती है दृग जल-धार !

बालकों-सा ही तो मैं हाय !
याद कर रोता हूँ अनजान;
न जाने होकर भी असहाय,
पुनः किससे करता हूँ मान !

मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को,
थाम ले अब, हृदय इस आह्वान को !

त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं
प्रेयसी के शून्य पावन स्थान को !
तेरे उज्ज्वल आंसू सुमनों में सदा
वास करेंगे, भग्न हृदय ! उनकी व्यथा
अनिल पोंछेगी; करुण उनकी कथा
मधुप बालिकाएँ गाएँगी सर्वदा !

१६२२]

बादल

सुरपति के हम ही हैं अनुचर
जगत्प्राण के भी सहचर,
मेघदूत की सजल कल्पना
चातक के चिर जीवनधर;

मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर;
विहग वर्ग के गर्भ विधायक,
कृषक बालिका के जलधर !

जलाशयों में कमल-दलों-सा
हमें खिलाता नित दिनकर,
पर बालक-सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर;

लघु लहरों के चल पलनों में
हमें झुलाता जब सागर,
वही चील-सा झपट, बाँह गह,
हमको ले जाता ऊपर !

भूमि गर्भ में छिप विहंग-से
फैला कोमल, रोमिल पंख,
हम असंख्य अस्फुट बीजों में
सेते साँस छुड़ा जड़ पंक;

विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ अंक;
हम फिर क्रीड़ा कौतुक करते,
छा अनंत उर में नि:शंक !

कभी अचानक भूतों का-सा
प्रकटा विकट महा आकार,
कड़क-कड़क, जब हँसते हम सब
थर्रा उठता है संसार;

फिर परियों के बच्चों-से हम
सुभग सीप के पंख पसार,
समुद तैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार !

बुद्बुद-द्युति तारक दल तरलित
तम के यमुना जल में श्याम
हम विशाल जम्बाल जाल-से
बहते हैं अमूल, अविराम;

दमयन्ती-सी कुमुद कला के
रजत करों में फिर अभिराम
स्वर्ण हंस-से हम मृदु ध्वनि कर,
कहते प्रिय संदेश ललाम !

दुहरा विद्युद्दाम चढ़ा द्रुत,
इन्द्रधनुष की कर टंकार;

विकट पटह-से निर्घोषित हो,
बरसा विशिखों-सा आसार,
चूर्ण-चूर्ण कर वज्रायुध से
भूधर को, अति भीमाकार
मदोन्मत्त वासव सेना-से
करते हम नित वायु विहार !

व्योम विपिन में जब वसन्त-सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात,
बहते हम तब अनिल स्रोत में
गिर तमाल तम के-से पात
उदयाचल से बाल हंस फिर
उड़ता अम्बर में अवदात
फैल स्वर्ण पंखों-से हम भी,
करते द्रुत मारुत से बात !

धीरे-धीरे संशय से उठ,
बढ़ अपयश से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह से
फैल लालसा से निशि भोर;
इन्द्रचाप-सी व्योम-भृकुटि पर
लटक मौन चिन्ता से घोर;
घोष भरे विप्लव भय से हम
छा जाते द्रुत चारों ओर !

पर्वत से लघु धूल, धूल से
पर्वत बन पल में, साकार—
काल चक्र-से चढ़ते, गिरते,
पल में जलधर, फिर जलधार;

कभी हवा में महल बनाकर,
सेतु बांधकर कभी अपार
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव भूति ही-से निस्सार !

नग्न गगन की शाखाओं में
फैला मकड़ी का-सा जाल
अम्बर के उड़ते पतंग को
उलझा लेते हम तत्काल;

फिर अनन्त उर की करुणा से
त्वरित द्रवित होकर उत्ताल—
आतप में मूर्च्छित कलियों को
जाग्रत करते हिमजल डाल !

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि वसन, वसुधा के मूल;

नभ में अवनि, अवनि में अम्बर,
सलिल भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल;

व्योम बेलि, ताराओं की गति,
चलते अचल, गगन के गान,
हम अपलक तारों की तन्द्रा,
ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान;

पवन धेनु, रवि के पांशुल श्रम
सलिल अनल के विरल वितान

व्योम पलक, जल खग बहते थल,
अम्बुधि की कल्पना महान् !

१६२२]

मौन निमंत्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,

न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन !

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास
प्रखर झरती जब पावस धार,

न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन !

देख वसुधा का यौवन भार
गूंज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास,

न जाने सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन !

क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथकर फेनाकार,

बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात;

उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन !

स्वर्ण, सुख, श्री सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर
विहग कुल की कल-कंठ हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर;

न जाने, अलस पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन !

तुमुल तम में जब एकाकार,
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर कुल की झनकार,
कँपा देती तन्द्रा के तार;

न जाने, खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन !

कनक छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुंजार;

न जाने, ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या में श्रमित अपार,
जुड़ाता जब मैं आकुल प्राण;

न जाने, मुझ स्वप्न में कौन
फिराता छाया जग में मौन !

न जाने कौन, अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूंक देते छिद्रों में गान;
अहे सुख-दुख के सहचर मौन !
नहीं कह सकता तुम हो कौन !

१९२३]

शिशु

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम ?
अहे अभिनव, अभिराम !

मृदुलता ही है बस आकार !
मधुरिमा—छवि, शृंगार,
न अंगों में है रंग, उभार,
न मृदु उर में उद्गार;
निरे साँसों के पिंजर द्वार !
कौन हो तुम अकलंक, अकाम ?

कामना-से माँ की सुकुमार
स्नेह में चिर साकार;
मृदुल कुड्मल-से जिसे न ज्ञात
सुरभि का निज संसार;
स्रोत-से नव अवदात
स्खलित अविदित पथ पर अविचार;

कौन तुम गूढ, गहन, अज्ञात,
अहे निरुपम, नवजात !

खेलती अधरों पर मुसकान,
पूर्व सुधि-सी अम्लान;
सरल उर की-सी मृदु आलाप
अनवगत जिसका गान;
कौन-सी अमर गिरा यह, प्राण !
कौन-से राग, छंद आख्यान ?
स्वप्न लोकों में किन चुपचाप
विचरते तुम इच्छा गतिवान !

न अपना ही, न जगत् का ज्ञान,
न परिचित हैं निज नयन, न कान;
दीखता है जग कैसा तात !
नाम, गुण, रूप अजान !
तुम्हीं सा हूँ मैं भी अज्ञात,
वत्स ! जग है अज्ञेय महान !

१६२३]

परिवर्तन

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल !
भूतियों का दिगंत छविजाल,
ज्योति चुंबित जगती का भाल ?
राशि-राशि विकसित वसुधा का वह यौवन विस्तार ?
स्वर्ग की सुषमा जब साभार
धरा पर करती थी अभिसार !

प्रसूनों के शाश्वत शृंगार,
(स्वर्ण भृंगों के गंध विहार)
गूँज उठते थे बारंबार,
सृष्टि के प्रथमोद्गार!
नग्न सुन्दरता थी सुकुमार,
ऋद्धि औ' सिद्धि अपार!

अये, विश्व का स्वर्ण स्वप्न, संसृति का प्रथम प्रभात,

कहाँ वह सत्य, वेद विख्यात?
दुरित, दुख, दैन्य न थे जब ज्ञात,
अपरिचित जरा मरण भ्रूपात!

हाय! सब मिथ्या बात!—
आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस!

वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार!

आज पावस नद के उद्गार
काल के बनते चिन्ह कराल;
प्रात का सोने का संसार
जला देगी संध्या की ज्वाल!

अखिल यौवन के रंग उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल;
कचों के चिकने, काले व्याल
केंचुली, काँस, सिवार;

गूंजते हैं सबके दिन चार,
सभी फिर हाहाकार !

आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात !
चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अंधकार, अज्ञात !

शिशिर-सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल,
प्रणय का चुंबन छोड़ अधीर
अधर जाते अधरों को भूल !

मृदुल होंठों का हिमजल हास
उड़ा जाता निःश्वास समीर,
सरल भौंहों का शरदाकाश
घेर लेते घन, घिर गंभीर !

शून्य साँसों का विधुर वियोग
छुड़ाता अधर मधुर संयोग;
मिलन के पल केवल दो-चार,
विरह के कल्प अपार !

अरे, वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय;
उठ रोओं के आलिंगन
कसक उठते काँटों-से हाय !

किसी को सोने के सुख साज
मिल गए यदि ऋण भी कुछ आज;
चुका लेता दुख कल ही ब्याज,
काल को नहीं किसी की लाज !

विपुल मणि रत्नों का छवि जाल,
इन्द्रधनु की सी छटा विशाल—
विभव की विद्युत् ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल;
मोतियों जड़ी ओस की डार
हिला जाता चुपचाप बयार !

खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण,
अभी उत्सव औ' हास हुलास
अभी अवसाद अश्रु, उच्छ्वास !
अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास,
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश;
सिसक उठता समुद्र का मन
सिहर उठते उडगन !

अहे निष्ठुर परिवर्तन !

तुम्हारा ही तांडव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान पतन !
अहे वासुकि सहस्र फन !

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर !
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर

घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ् मंडल !
अहे दुर्जेय विश्वजित् !
नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इंद्रासन तल माथ,
घूमते शत-शत भाग्य अनाथ,
सतत रथ के चक्रों के साथ !

तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित;
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित,
नग्न नगर कर, भग्न भवन प्रतिमाएँ खण्डित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर-संचित !
आधि, व्याधि, बहुवृष्टि, वात, उत्पात, अमंगल
वह्नि, बाढ़, भूकम्प—तुम्हारे विपुल सैन्य-दल,
अरे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल
हिल-हिल उठता है टल मल
पद दलित धरातल !

जगत् का अविरत हृत्कम्पन
तुम्हारा ही भय सूचन;
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमन्त्रण !

विपुल वासना विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम, कुटिल काल कृमि-से घुस पल-पल;
तुम्हीं स्वेद-सिंचित संसृति के स्वर्ण शस्य दल

दलमल देते, वर्षोपल बन, वांछित कृषिफल !
अये, सतत ध्वनि स्पंदित जगती का दिङ्मंडल
नैश गगन सा सकल
तुम्हारा ही समाधि-स्थल !

काल का अकरुण भृकुटि विलास
तुम्हारा ही परिहास;
विश्व का अश्रुपूर्ण इतिहास !
तुम्हारा ही इतिहास !

एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर !
भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध, शृंगवर,
नष्ट-भ्रष्ट साम्राज्य—भूति के मेघाडंबर !
अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भूकम्पन,
गिर-गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों-से उडगन !
आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन,
मुग्ध भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्तन !
दिक् पिंजर में बद्ध, गजाधिप-सा वनितानन
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन !

जगत की शत कातर चीत्कार
बेधतीं बधिर! तुम्हारे कान !
अश्रु स्रोतों की अगणित धार
सींचतीं उर पाषण !

अरे क्षण-क्षण सौ-सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश !

चतुर्दिक् घहर घहर आक्रांति
ग्रस्त करती सुख शांति !
हाय री दुर्बल भ्रांति !
कहाँ नश्वर जगती में शांति !
सृष्टि ही का तात्पर्य अशांति !
जगत अविरत जीवन संग्राम,
स्वप्न है यहाँ विराम !
एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष, विजन वन !
—यही तो है असार संसार
सृजन, सिंचन, संहार !
आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार
रत्न दीपावलि, मन्त्रोच्चार;
उलूकों के कल भग्न विहार,
झिल्लियों की झनकार !
दिवस निशि का यह विश्व विशाल
मेघ मारुत का माया जाल !

अरे, देखो इस पार—
दिवस की आभा में साकार
दिगम्बर, सहम रहा संसार !
हाय ! जग के करतार !!
प्रात ही तो कहलाई मात
पयोधर बने उरोज उदार,
मधुर उर इच्छा को अज्ञात
प्रथम ही मिला मृदुल आकार;

छिन गया हाय ! गोद का बाल
गड़ी है बिना बाल की नाल !

अभी तो मुकुट बँधा था माथ
हुए कल ही हल्दी के हाथ;
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुम्बन शून्य कपोल;
हाय ! रुक गया यहीं संसार
बना सिंदूर अँगार;

वात-हत लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार !

काँपता उधर दैन्य निरुपाय,
रज्जु-सा, छिद्रों का कृश काय !
न उर में गृह का तनिक दुलार,
उदर ही में दानों का भार !
भूँकता सिड़ी शिशिर का श्वान
चीरता हरे ! अचीर शरीर;
न अधरों में स्वर, तन में प्राण,
न नयनों में ही नीर !
सकल रोओं से हाथ पसार
लूटता इधर लोभ गृह द्वार;
उधर वामन डग स्वेच्छाचार;
नापती जगती का विस्तार;

टिड्डियों सा छा अत्याचार
चाट जाता संसार !

बजा लोहे के दंत कठोर
नचाती हिंसा जिह्वा लोल;

भृकुटि के कुंडल वक्र मरोर
फुहुँकता अंध रोष फन खोल !
लालची गीधों-से दिन-रात
नोचते रोग शोक नित गात,
अस्थि पंजर का दैत्य दुकाल
निगल जाता निज बाल !

बहा नर शोणित मूसलधार,
रुंड मुंडों की कर बौछार,
प्रलय घन सा घिर भीमाकार
गरजता है दिगंत मंहार;
छेड़ कर शस्त्रों की झनकार
महाभारत गाता संसार !

कोटि मनुजों के निहित अकाल,
नयन मणियों से जटित कराल,
अरे, दिग्गज सिंहासन जाल
अखिल मृत देशों में कंकाल;
मोतियों के तारक लड़ हार,
आँसुओं के श्रृंगार !

रुधिर के हैं जगती के प्रात,
चितानल के ये सायंकाल;
शून्य निःश्वासों के आकाश,
आँसुओं के ये सिंधु विशाल !
यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे, जग है जग का कंकाल !!
वृथा रे ये अरण्य चीत्कार,
शांति सुख है उस पार !

आह भीषण उद्गार ! —
नित्य का यह अनित्य नर्तन,
विवर्तन जग, जग व्यावर्तन,
अचिर में चिर का अन्वेषण
विश्व का तत्त्वपूर्ण दर्शन !

अतल से एक अकूल उमंग,
सृष्टि की उठती तरल तरंग
उमड़ शत शत बुद्बुद संसार
बूड़ जाते निस्सार ।

बना सैकत के तट अतिवात
गिरा देती अज्ञात !

एक छवि के असंख्य उडगण,
एक ही सब में स्पंदन;
एक छवि के विभात में लीन,
एक विधि के रे नित्य अधीन !

एक ही लोल लहर के छोर
उभय सुख दुख, निशि भोर;
इन्हीं से पूर्ण त्रिगुण संसार,
सृजन ही है, संहार !

मूँदती नयन मृत्यु की रात
खोलती नव जीवन की प्रात,
शिशिर की सर्व प्रलयकर वात
बीज बोती अज्ञात !

म्लान कुसुमों की मृदु मुसकान
फलों में फलती फिर अम्लान

महत् है, अरे आत्म-बलिदान
जगत केवल आदान प्रदान !

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास;
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शांत अंबर में नील विकास;
वही उर उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास;
अचल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास !

विविध द्रव्यों में विविध प्रकार
एक ही मर्म मधुर झंकार !

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार;
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार;

स्वरों में ध्वनित मधुर, सुकुमार,
सत्य ही प्रेमोद्गार;
दिव्य सौंदर्य, स्नेह साकार,
भावनामय संसार !

स्वीय कर्मों ही के अनुसार
एक गुण फलता विविध प्रकार;
कहीं राखी बनता सुकुमार
कहीं बेड़ी का भार !

कामनाओं के विविध प्रहार,
छेड़ जगती के उर के तार,

जगाते जीवन की झंकार,
स्फूर्ति करते संचार;
चूम सुख दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार !

पिघल होंठों का हिलता हास
दृगों को देता जीवन दान,
वेदना ही में तपकर प्राण
दमक दिखलाते स्वर्ण हुलास !

तरसते है हम आठों याम,
इसी से सुख अति सरस, प्रकाम;
झेलते निशि दिन का संग्राम
इसी से जय अभिराम;
अलभ है इष्ट, अतः अनमोल,
साधना ही जीवन का मोल !

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार;
दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया क्षमा औ' प्यार !

आज का दुख, कल का आह्लाद,
और कल का सुख, आज विषाद;
समस्या स्वप्न - गूढ़ संसार
पूर्ति जिसकी उस पार;
जगत जीवन का अर्थ विकास,
मृत्यु, गति-क्रम का ह्रास !
हमारे काम न अपने काम,
नहीं हम, जो हम ज्ञात;

अरे, निज छाया में उपनाम
छिपे है हम अपरूप;
गँवाने आए हैं अज्ञात
गँवा कर पाते स्वीय स्वरूप ?

जगत की सुन्दरता का चाँद
सजा लांछन को भी अवदात,
सुहाता बदल, बदल, दिन-रात,
नवलता ही जग का आह्लाद !

स्वर्ण शैशव स्वप्नों का जाल,
मंजरित यौवन, सरस रसाल;
प्रौढ़ता, छाया-वट सुविशाल;
स्थविरता, नीरव सायंकाल;

वही विस्मय का शिशु नादान
रूप पर मँडरा, बन गुंजार;
प्रणय से बिंध, बँध, चुन-चुन सार
मधुर जीवन का मधु कर पान;
साध अपना मधुमय संसार
डुबा देता नित तन, मन, प्राण !

एक बचपन ही में अनजान
जागते, सोते, हम दिन रात;
वृद्ध बालक फिर एक प्रभात
देखता नव्य स्वप्न अज्ञात;

मूँद प्राचीन मरण,
खोल नूतन जीवन !

विश्वमय हे परिवर्तन !
अतल से उमड़ अकूल, अपार,

मेघ-से विपुलाकार;
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार !
अहे अनिर्वचनीय ! रूप धर भव्य, भयंकर,
इन्द्रजाल-सा तुम अनंत में रचते सुन्दर;
गरज-गरज, हँस-हँस, चढ़-गिर, छा-ढा, भू-अंबर
करते जगती को अजस्र जीवन से उर्वर;
अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्रचाप वर
अहे तुम्हारी भीम भृकुटि पर
अटका निर्भर !
एक औ' बहु के बीच अजान
घूमते तुम नित चक्र समान
जगत के उर में छोड़ महान्
गहन चिह्नों में ज्ञान !
परिवर्तित कर अगणित नूतन दृश्य निरन्तर
अभिनय करते विश्व मंच पर तुम मायाकर !
जहाँ हास के अधर, अश्रु के नयन करुणतर
पाठ सीखते संकेतों में प्रकट अगोचर;
शिक्षास्थल यह विश्व मंच, तुम नायक नटवर,
प्रकृति नर्तकी सुघर
अखिल में व्याप्त सूत्रधर !
हमारे निज सुख, दुख, निःश्वास
तुम्हें केवल परिहास;
तुम्हारी ही विधि पर विश्वास
हमारा चिर आश्वास !
ऐ अनन्त हृत्कंप ! तुम्हारा अविरत स्पंदन
सृष्टि शिराओं में संचारित करता जीवन;

खोल जगत के शत शत नक्षत्रों-से लोचन
भेदन करते अंधकार तुम जग का क्षण क्षण;
सत्य तुम्हारी राज यष्टि, सम्मुख नत त्रिभुवन
भूप, अकिंचन,
अटल शास्ति नित करते पालन !
तुम्हारा ही अशेष व्यापार,
हमारा भ्रम, मिथ्याहंकार;
तुम्हीं में निराकार साकार,
मृत्यु जीवन सब एकाकार !
अहे महांबुधि ! लहरों-से शत लोक, चराचर,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर;
तुग तरंगों-से शत युग, शत शत कल्पांतर
उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर;
शत सहस्र रवि शशि, असंख्य ग्रह उपग्रह, उडगण
जलते, बुझते हैं स्फुलिंग-से तुम में तत्क्षण;
अचिर विश्व में अखिल—दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरंतन
अहे विवर्तनहीन विवर्तन !

१६२४]

गुंजन

वन वन, उपवन—
छाया उन्मन उन्मन गुंजन,
नव वय के अलियों का गुंजन !
रुपहले सुनहले आम्र बौर,
नीले, पीले औ' ताम्र भौंर;

रे गंध अंध हो ठौर ठौर
उड़ पाँति-पाँति में चिर उन्मन
करते मधु के वन में गुंजन !

वन के विटपों की डाल-डाल
कोमल कलियों से लाल लाल,
फैली नव मधु की रूप ज्वाल,
जल-जल प्राणों के अलि उन्मन,
करते स्पदन, करते गुंजन !
अब फैला फूलों में विकास,
मुकुलों के उर में मदिर वास,
अस्थिर सौरभ से मलय श्वास !
जीवन मधु संचय को उन्मन
करते प्राणों के अलि गुजन !

१६३२]

गाता खग

गाता खग प्रातः उठकर—
सुन्दर, सुखमय जग जीवन !
गाता खग सन्ध्या-तट पर—
मगल, मधुमय जग जीवन !

कहती अपलक तारावलि
अपनी आँखों का अनुभव—
अवलोक आँख आँसू की
भर आतीं आँखें नीरव !

हँसमुख प्रसून सिखलाते
पल भर है, जो हँस पाओ,

अपने उर की सौरभ से
जग का आँगन भर जाओ !

उठ-उठ लहरें कहतीं यह
हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमंग में बह-बह
नित आगे बढ़ती जावें !

कँप-कँप हिलोर रह जाती—
रे मिलता नहीं किनारा !
बुदबुद विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा !

१६३२]

एक तारा

नीरव संध्या में प्रशांत
डूबा है सारा ग्राम प्रांत !
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर
ज्यों वीणा के तारों में स्वर !
खग कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलिहीन,
धूसर भुजंग सा जिह्म, क्षीण !
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशांति को रहा चीर,
संध्या प्रशांति को कर गभीर !
इस महाशांति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार
ज्यों बेध रही हो आर पार !
अब हुआ सांध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण वस्तु से विश्व हीन !

गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल,
है मूंद चुका अपने मृदु दल !
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर !

तरु शिखरों से वह स्वर्ण विहग उड़ गया, खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा नीड़ में रे किस मग !
मृदु मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील नील, कोमल कोमल,
छाया तरु वन में तम श्यामल !

पश्चिम नभ में हूँ रहा देख
उज्ज्वल, अमंद नक्षत्र एक !
अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक, ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक !

किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिये हुए कितने समीप ?
मुक्तालोकित ज्यों रजत सीप !
क्या उसकी आत्मा का चिर धन, स्थिर, अपलक नयनों का चिंतन,
क्या खोज रहा वह अपनापन !

दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता, यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन !
आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बंधन विवेक !
चिर आकांक्षा से ही थर् थर् उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर !

अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबाध रवि, शशि, उड्गण,
दुस्तर आकांक्षा का बंधन !
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल! क्या नीरव नीरव नयन सजल !
जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल !

एकाकीपन का अंधकार, दुस्सह है इसका मूक भार,
इसके विषाद का रे न पार !
चिर अविचल पर तारक अमंद !
जानता नहीं वह छंद बंध !
वह रे अनंत का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन !
निष्कंप शिखा-सा वह निरुपम, भेदता जगत जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम !
गुंजित अलि-सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अंधकार,
हल्का एकाकी व्यथा भार !
जगमग जगमग नभ का आँगन लद गया कुंद कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग दर्शन !

१६३२]

नौका विहार

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनंत, नीरव भूतल !
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रांत, क्लांत, निश्चल !
तापस बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुंतल !
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार तरल सुंदर,
चंचल अंचल सा नीलांबर !
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर !

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर!
सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें चढ़ीं, उठा लंगर!
मृदु मंद मंद मंथर मंथर, लघु तरणि, हंसिनी सी सुंदर,
तिर रही, खोल पालों के पर!
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर बिम्बित हो रजत पुलिन निर्भर,
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर!
कालाकांकर का राजभवन, सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन,
पलकों में वैभव स्वप्न सघन!
नौका से उठती जल हिलोर!
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर!

विस्फारित नयनों से निश्चल, कुछ खोज रहे चल तारक दल,
ज्योतित कर जल का अंतस्तल,
जिनके लघु दीपों को चंचल, अचल की ओट किए अविरल,
फिरतीं लहरें लुक-छिप पल-पल!
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल!
लहरों के घूंघट से झुक-झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख
दिखलाता, मुग्धा-सा रुक-रुक!
अब पहुँची चपला बीच धार!
छिप गया चाँदनी का कगार!

दो बाँहों-से दूरस्थ तीर, धारा का कृश कोमल शरीर,
आलिंगन करने को अधीर!

अति दूर, क्षितिज पर विटप माल, लगती भ्रू-रेखा-सी-अराल
अपलक नभ नील नयन विशाल!

माँ के उर पर शिशु-सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप,
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप;

वह कौन विहग ? क्या विकल कोक उड़ता हरने निज विरह शोक
छाया की कोकी को विलोक !
पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार !

डाँडों के चल करतल पसार, भर-भर मुक्ताफल फेन स्फार,
बिखराती जल में तार हार !

चाँदी के साँपों-सी रलमल नाचतीं रश्मियाँ जल में चल,
रेखाओं-सी खिच तरल सरल !

लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ-सौ शशि सौ-सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल !

अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले ले सहज थाह,
हम बढ़े घाट को सहोत्साह !
ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार !

इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत, इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति ! शाश्वत संगम !
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास !
हे जगजीवन के कर्णधार ! चिर जन्म-मरण के आरपार,
शाश्वत जीवन-नौका विहार !
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान !

१६३२]

सान्ध्य वन्दना

जीवन का श्रम ताप हरो हे !
सुख सुषमा के मधुर स्वर्ण से
सूने जग गृह द्वार भरो, हे !

लौटे गृह सब श्रांत चराचर,
नीरव तरु अधरों पर मर्मर,
करुणा-नत निज कर-पल्लव से
विश्व नीड़ प्रच्छाय करो, हे !

उदित शुक्र, अब अस्त भानु बल,
स्तब्ध पवन, नत नयन पद्म दल,
तंद्रिल पलकों में निशि के शशि !
सुखद स्वप्न बनकर विचरो, हे !

१९३२]

स्वप्न कल्पना

शिशुओं के अविकच उर में
हम चिर रहस्य बन रहते !
छाया-वन के गुंजन में
युग-युग की गाथा कहते !
अपलक तारक पलकों पर
हम भावी का पथ तकते !
नव युग की स्वर्ण-कथाएँ
ऊषा अंचल पर लिखते !

सीमाएँ बाधा बंधन
नि:सीम सदैव विचरते;

हम जगती के नियमों पर
अनियम से शासन करते !
हम मनोलोक से जग में
युग-युग में आते जाते,
नव जीवन के ज्वारों में
दिशि पल के पुलिन डुबाते !

१६३२]

द्रुत झरो

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिमताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन !
निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग
जड़ नीड़ शब्द औ' श्वासहीन,
च्युत, अस्त-व्यस्त पंखों-से तुम
झर-झर अनंत में हो विलीन !

कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर,—पल्लव लाली !
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली !
मंजरित विश्व मे यौवन के
जग कर जग का पिक मतवाली
निज अमर प्रणय स्वर-मदिरा से
भर दे फिर नव युग की प्याली !

१६३४]

ताज

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
स्फटिक सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास विहीन रहे जीवित जन !
मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति ?
प्रेम अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल, भरें जीवन का प्रांगण ?
शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?
युग-युग के मृत आदर्शों के ताज मनोहर
मानव के मोहान्ध हृदय में किये हुए घर !
भूल गए हम जीवन का संदेश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर !

१९३५]

संध्या

कहो, तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छवि में आप,
सुनहला फैला केश कलाप
मधुर, मंथर, मृदु, मौन !
मूंद अधरों में मधुपालाप,
पलक में निमिष, पदों में चाप,

भाव संकुल, बंकिम, भ्रू चाप,
मौन, केवल तुम मौन !
ग्रीव तीर्यक, चपक द्युति गात,
नयन मुकुलित, नत मुख जलजात,
देह छवि छाया में दिन रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?
अनिल पुलकित स्वर्णांचल लोल,
मधुर नूपुर ध्वनि खगकुल रोल,
सीप-से जलदों के पर खोल,
उड़ रही नभ में मौन !
लाज से अरुण अरुण सुकपोल
मधुर अधरों की सुरा अमोल—
बने पावस घन स्वर्ण हिंदोल,
कहो एकाकिनि, कौन ?
मधुर, मंथर तुम मौन !

१६३०]

अल्मोड़े का वसंत

विद्रुम औ' मरकत की छाया,
सोने चाँदी का सूर्यातप;
हिम परिमल की रेशमी वायु,
शत रत्नछाय खग चित्रित नभ !
पतझड़ के कृश पीले तन पर
पल्लवित तरुण लावण्य लोक;
शीतल हरीतिमा की ज्वाला
फैली दिशि दिशि कोमलाऽलोक !

आह्लाद, प्रेम औ' यौवन का
नव स्वर्ग, सद्य सौंदर्य-सृष्टि;
मंजरित प्रकृति' मुकुलित दिगंत,
कूजन गुंजन की व्योम वृष्टि !
—लो, चित्रशलभ-सी, पंख खोल
उड़ने को है कुसुमित घाटी—
यह है अल्मोड़े का वसंत,
खिल पड़ी निखिल पर्वत पाटी !

१६३५]

बापू

किन तत्वों से गढ़ जाओगे तुम भावी मानव को ?
किस प्रकाश से भर जाओगे इस समरोन्मुख भव को ?
सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन ?
अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जावेगा जग जीवन ?
आत्मा की महिमा से मण्डित होगी नव मानवता ?
प्रेम शक्ति से चिर निरस्त हो जावेगी पाशवता ?
बापू ! तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान,
हँस उठते है रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण !
भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान !
नहीं जानता युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय,
पर, मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय !
नव संस्कृति के दूत ! देवताओं का करने कार्य
मानव आत्मा को उबारने आए तुम अनिवार्य !

१६३७]

नव संस्कृति

भाव कर्म में जहाँ साम्य हो संतत
जग जीवन में हों विचार जन के रत;
ज्ञान वृद्ध, निष्क्रिय न जहाँ मानव मन,
मृत आदर्श न बन्धन, सक्रिय जीवन !
रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आधारित,
श्रेणि वर्ग में मानव नहीं विभाजित !
धन बल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण,
पूरित भव जीवन के निखिल प्रयोजन !
जहाँ दैन्य जर्जर, अभाव ज्वर पीड़ित,
जीवन यापन हो न मनुज को गर्हित !
युग-युग के छायाभासों से त्रासित
मानव प्रति मानव मन हो न सशंकित !
मुक्त जहाँ मन की गति, जीवन में रति;
भव मानवता में जन जीवन परिणति;
संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हों जन वास, वसन, सुन्दर तन !
—ऐसा स्वर्ग धरा पर हो समुपस्थित
नव मानव संस्कृति किरणों से ज्योतित !

१६३७]

दो लड़के

मेरे आँगन में, (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे-से लड़के आ जाते हैं अकसर !

नंगे तन, गदबदे साँवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले—पर फुर्तीले !

जल्दी से टीले के नीचे उधर उतर कर
वे चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुन्दर—
सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली पीली

मासिक पत्रों के कवरों की, औ' बन्दर-से
किलकारी भरते हैं, खुश हो-हो अन्दर से !
दौड़ पार आँगन के फिर हो जाते ओझल
वे नाटे छः-सात साल के लड़के मांसल !

सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन-मन
मानव के नाते उर में भरता अपनापन
मानव के बालक हैं ये पासी के बच्चे,
रोम-रोम मानव, साँचे में ढाले सच्चे !

अस्थि मांस के इन जीवों का ही यह जग घर,
आत्मा का अधिवास न यह—वह सूक्ष्म अनश्वर
न्योछावर है आत्मा नश्वर रक्त मांस पर,
जग का अधिकारी है वह, जो है दुर्बलतर।

वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषण भू पर
कैसे रह सकता है कोमल मनुज कलेवर ?
निष्ठुर है जड़ प्रकृति, सहज भंगुर जीवित जन,
मानव को चाहिए यहाँ मनुजोचित साधन !

क्यों न एक हो मानव मानव सभी परस्पर
मानवता निर्माण करें जग में लोकोत्तर !
जीवन का प्रासाद उठे भू पर गौरवमय,
मानव का साम्राज्य बने—मानव हित निश्चय !

जीवन की क्षण-धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित
रक्त मांस की इच्छाएँ जन की हों पूरित !
मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें—मानव ईश्वर !
और कौन-सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर ?

१९३८]

वह बुड्ढा

खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी,
हिलते हड्डी के ढाँचे पर !
उभरी ढीली नसें जाल-सी
सूखी ठठरी से हैं लिपटीं,
पतझर में ठूँठे तरु से ज्यों
सूनी अमरबेल हो चिपटी !
उसका लम्बा डोल - डौल है,
हट्टी - कट्टी काठी चौड़ी;
इस खँडहर में बिजली - सी
उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी।
बैठी छाती की हड्डी अब
झुकी रीढ़ कमठा - सी टेड़ी,
पिचका पेट गढ़े कधों पर
फटी बिवाई से है एड़ी।
बैठ, टेक धरती पर माथा,
वह सलाम करता है झुककर,
उस धरती से पाँव उठा लेने को

जी करता है क्षण भर !
घुटनों से मुड़ उसकी लम्बी
टांगें जाँघें सटीं परस्पर
झुका बीच में शीश, झुर्रियों का
झांझर मुख निकला बाहर !
हाथ जोड़, चौड़े पंजों की
गुँथी अँगुलियों को कर सम्मुख,
मौन त्रस्त चितवन से, कातर
वाणी से वह कहता निज दुख !
गर्मी के दिन, धरे उपरनी सिर पर,
लुंगी से ढांपे तन—
नंगी देह भरी बालों से—
बनमानुस-सा लगता वह जन !
भूखा है, पैसे पा, कुछ गुनमुना
खड़ा हो, जाता वह घर,
पिछले पैरों के बल उठ
जैसे कोई चल रहा जानवर !
काली नारकीय छाया निज
छोड़ गया वह मेरे भीतर,
पैशाचिक-सा कुछ, दु.खों से
मनुज गया शायद उसमें मर !

१९३८]

कहारों का रुद्र नृत्य

रंग-रंग के चीरों से भर अंग, चीरवासा-से,
दैन्य शून्य में अप्रतिहत जीवन की अभिलाषा-से,

जटा घटा सिर पर, यौवन की श्मश्रु छटा आनन पर,
छोटी बड़ी तूँबियाँ, रँग रँग की गुरियाँ सज तन पर,
हुलस नृत्य करते तुम, अटपट धर पटु पद, उच्छृंखल
आकांक्षा से समुच्छ्वसित जन मन का हिला धरातल !
फड़क रहे अवयव,—आवेश विवश मुद्राएँ अंकित,
प्रखर लालसा की ज्वालाओं-सी अंगुलियाँ कम्पित,
उष्ण देश के तुम प्रगाढ़ जीवनोल्लास से निर्भर,
बर्हभार उद्दाम कामना के-से खुले मनोहर !
एक हाथ में ताम्र डमरु धर, एक शिवा की कटि पर
नृत्य तरंगित रुद्ध पूर-से तुम जन मन के सुखकर !
वाद्यों के उन्मत्त घोष से, गायन स्वर से कम्पित,
जन इच्छा का गाढ़ चित्र कर हृदय पटल पर अंकित,
खोल गए संसार नया तुम मेरे मन में, क्षण भर,
जन संस्कृति का तिग्म स्फीत सौन्दर्य-स्वप्न दिखलाकर !
युग-युग के सत्याभासों से पीड़ित मेरा अन्तर
जन मानव गौरव पर विस्मित, मैं भावी चिन्तन पर !

१९३८]

गंगा

अब आधा जल निश्चल, पीला,
आधा जल चंचल औ' नीला,
गीले तन पर मृदु संध्यातप
सिमटा रेशम पट-सा ढीला !
ऐसे सोने के साँझ प्रात,
ऐसे चाँदी के दिवस रात,

ले जाती बहा कहाँ गंगा
जीवन के युग क्षण—किसे ज्ञात !
विश्रुत हिम पर्वत से निर्गत
किरणोज्ज्वल, चल कल ऊर्मि निरत,

यमुना गोमती आदि से मिल
होती यह सागर में परिणत !
यह भौगोलिक गंगा परिचित,
जिसके तट पर बहु नगर प्रथित,

इस जड़ गंगा से मिली हुई
जन गंगा एक और जीवित !

वह विष्णुपदी, शिव मौलि स्रुता,
वह भीष्म प्रसू औ' जह्नुसुता,
वह देव निमग्ना, स्वर्गंगा,

वह सगर पुत्र तारिणी श्रुता !
वह गंगा यह केवल छाया,
वह लोक चेतना, यह माया,
वह आत्मवाहिनी ज्योति सरी,
यह भू पतिता, कंचुक काया !
वह गंगा जन मन से निःसृत,
जिसमें बहु बुद्बुद युग नर्तित,
वह आज तरंगित, संसृति के
मृत सैकत को करने प्लावित !
दिशि-दिशि का जन मत वाहित कर,
वह बनी अकूल अतल सागर,
भर देगी दिशि पल पुलिनों में
वह नवजीवन की मृदु उर्वर !

+ + +

अब नभ पर रेखा शशि शोभित,
गंगा का जल श्यामल, कम्पित
लहरों पर चाँदी की किरणें
करतीं प्रकाशमय कुछ अंकित !

[१६४०]

दिवा स्वप्न

दिन की इस विस्तृत आभा में, खुली नाव पर,
आर-पार के दृश्य लग रहे साधारणतर !
केवल नील फलक-सा नभ, सैकत रजतोज्ज्वल,
और तरल बिल्लौर वेश्मतल-सा गंगाजल—
चपल पवन के पदाचार से अहरह स्पंदित—
शान्त हास्य से अन्तर को करते आह्लादित !
मुक्त स्निग्ध उल्लास उमड़ जल हिलकोरों पर
नृत्य कर रहा, टकरा पुलकित तट छोरों पर !

गुन के बल चल रही प्रतनु नौका चढ़ाव पर
बदल रहे तट दृश्य चित्रपट पर ज्यों सुन्दर !
वह, जल से सट कर उड़ते हैं चटुल पनेवा,
इन पंखों की परियों को चाहिए न खेवा !
दमक रही उजियारी छाती करछौहें पर,
श्याम घनों से झलक रही बिजली क्षण क्षण पर !
उधर, कगारे पर अटका है पीपल तरुवर
लंबी, टेढ़ी जड़ें जटा-सी छितरीं बाहर !
लोट रहा सामने सूस पनडुब्बी-सा तिर
पूँछ मार जल में चमकीली, करवट खा फिर !

सोन कोक के जोड़े बालू के चाँदों पर
चोंचों से सहला पर, क्रीड़ा करते सुखकर !
बैठ न पातीं, चक्कर खातीं देवदिलाई,
तिरती लहरों पर सुफेद काली परछाई !
लो, मछरंगा उतर तीर-सा नीचे क्षण में,
पकड़ तड़पती मछली को, उड़ गया गगन में !
नरकुल सी चोंचें ले चाहा फिरते फर् फर्
मँडराते सुरखाब व्योम में, आर्त नाद कर—

काले, पीले, खैरे, बहुरंगे चित्रित पर
चमक रहे बारी बारी स्मिति आभा से भर !
वह, टीले के ऊपर, तूंबी-सा, बबूल पर,
सरपत का घोंसला बया का लटका सुन्दर !
दूर उधर, जंगल में भीटा एक मनोहर
दिखलाई देता है बन देवों का-सा घर;
जहाँ खेलते छायातप, मारुत, तरु मर्मर,
स्वप्न देखती विजन शान्ति में मौन दोपहर !

वन की परियाँ धूपछाँह की साड़ी पहने
जहाँ विचरतीं चुनने ऋतु कुसुमों के गहने !
वहाँ मत्त करती मन नव मुकुलों की सौरभ,
गुंजित रहता सतत द्रुमों का हरित श्वसित नभ!
वहाँ गिलहरी दौड़ा करती तरु डालों पर
चंचल लहरी-सी, मृदु रोमिल पूँछ उठाकर !
और वन्य विहगों-कीटों के सौ-सौ प्रिय स्वर
गीत वाद्य से बहलाते शोककुल अन्तर !
वहीं कहीं, जी करता, मैं जाकर छिप जाऊँ,
मानव जग के क्रन्दन से छुटकारा पाऊँ,

प्रकृति नीड़ में व्योम खगों के गाने गाऊँ,
अपने चिर स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊँ !

१९३८]

विनय

विज्ञान ज्ञान बहु सुलभ, सुलभ बहु नीति धर्म,
संकल्प कर सकें जन, इच्छा अनुरूप कर्म !
उपचेतन मन पर विजय पा सके चेतन मन
मानव को दो यह शक्ति, पूर्ण जग के कारण !
मनुजों की लघु चेतना मिटे, लघु अहंकार,
नव युग के गुण से विगत गुणों का अन्धकार
हो शान्त जाति विद्वेष, वर्गगत रक्त समर,
हों शांत युगों के प्रेत, मुक्त मानव अंतर !
संस्कृत हों सब जन, स्नेही हों, सहृदय, सुन्दर,
संयुक्त कर्म पर विश्व एकता हो निर्भर !
राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें, देशों से देश आज,
मानव से मानव—हो जीवन निर्माण काज !
हो धरणि जनों की, जगत स्वर्ग—जीवन का घर!
नव मानव को दो, प्रभु ! भव मानवता का वर !

१९३८]

ज्योति भारत

ज्योति भूमि,
जय भारत देश !
ज्योति चरण धर जहाँ सभ्यता
उतरी तेजोन्मेष !

समाधिस्थ सौन्दर्य हिमालय
श्वेत शान्ति आत्मानुभूति लय,
गंगा यमुना जल ज्योतिर्मय,
हँसता जहाँ अशेष !
फूटे जहाँ ज्योति के निर्झर
ज्ञान भक्ति गीता वंशी स्वर,
पूर्ण काम जिस चेतन रज पर
लोटे हँस लोकेश !
रक्तस्नात मूच्छित धरती पर
बरसा अमृत-ज्योति स्वर्णिम कर
दिव्य चेतना का प्लावन भर
दो जग को आदेश !

१९५४]

हिमाद्रि

मानदण्ड भू के अखण्ड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण,
प्रिय हिमाद्रि, तुमको हिमकण-से
घेरे मेरे जीवन के क्षण !
मुझ अंचलवासी को तुमने
शैशव में आशी दी पावन
नभ में नयनों को खो, तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन !
कब से शब्दों के शिखरों में
तुम्हें चाहता करना चित्रित

शुभ्र शान्ति में समाधिस्थ हे,
शाश्वत सुन्दरता के भूभृत !
बाल्य चेतना मेरी तुममें
जड़ीभूत आनन्द तरंगित,
तुम्हें देख सौन्दर्य-साधना
महाश्चर्य से मेरी विस्मित !

जिन शिखरों को स्वर्ण किरण नित
ज्योति मुकुट से करती मण्डित,
जिन पर सहसा स्खलित तड़ित्
हो उठती निज आलोक से चकित;
जिन शिखरों पर रजत पूर्णिमा
सिन्धु ज्वार-सी लगती स्तम्भित,
जिनकी नीरवता में मेरे
गीत स्वप्न रहते थे झंकृत !

जिसकी शीतल ज्वाला में जल
बनी चेतना मेरी निर्मल,
प्राण हुए आलोकित जिनके
स्वर्गोन्नत सौन्दर्य से सजल !
हृदय चाहता काव्य-कल्पना को
किरीट पहनाना उज्ज्वल
स्मृति में ज्योति तरंगित स्वर्गिक
श्रृंगों के आलोक का तरल !

रवि की किरणें जिसे स्पर्श कर
हो उठतीं आलोक निनादित
जिस पर ऊषा सन्ध्या की छवि
आदि सृष्टि-सी ही स्वर्णांकित ।

इन्दु ज्वलित तुम स्फटिक धवलिमा
के क्षीरोदधि से हिल्लोलित,
ज्योत्स्ना में थे स्वप्न मौन
अप्सरा लोक-से लगते मोहित !

सुरंग प्रवालों की रत्नश्री
अहरह रहती जहाँ मर्मरित,
देवदारु की चारु सूचि से
मरकत तलहटियाँ रोमांचित !
मौन स्वर्ग मुख पर अंकित तुम
शुचि दिगंत स्मिति से चिर शोभित
आदि तत्त्व-से, अपनी ही शोभा
विलोक रहते अनिमेषित !

नीली छायाएँ थीं तन पर
लगतीं आभा की-सी सिकुड़न,
इन्द्रधनुष मण्डल से दीपित
उड़ते थे शत हँसमुख हिमकण:
स्वर्दूतों के पंखों-से स्मित
तडित् चकित हिम के रोमिल घन
रंगों से वेष्टित रखते थे
तुमको हे आलोक निरंजन !

प्रति वत्सर आती थी मधुऋतु
सद्यःस्फुट देही ले कुसुमित
चीर रश्मियों को, फूलों के
अंगों पर निज कर शत रंजित;
खुलती पंखड़ियों की कंचुक
सौरभ श्वासों से थी स्पंदित,

मेरे शैशव को नित उसकी
गीत कोकिला रखती कूजित !

कलरव, स्वप्नातप, सुरधनु पट,
शशि मुख, हिम स्मिति, गात्र ले श्वसित
षड्ऋतु करती थीं परिक्रमा
अप्सरियों-सी सुरपति प्रेषित;
शरद चन्द्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृंगों पर विजड़ित,
हिम की परियों का अंचल उड़,
भू को कर लेता था परिवृत।

रंग-रंग के चित्रित पक्षी
उड़ते नभ में गीत तरंगित
नील पीत भृंगों का गुञ्जन
मौन क्षणों को रखता मुखरित;
ऊष्मा का सूर्यातप तुम में
लगता शीतलता-सा मूर्तित,
इन्द्रचाप पुल पर, वर्षा में
सुरबालाएँ आ जातीं नित !

जग प्रच्छाय गुहाओं में, नव
वाष्पों के गज भरते गर्जन,
चंचल विद्युत् लेखाएँ थीं
लिपट दृगों से जातीं तत्क्षण;
ताराओं के साथ सहज
शैशव स्वप्नों से भर जाता मन,
उठते थे तुम अन्तर में
सौन्दर्य स्वप्न शृंगों पर मोहन !

मेघों की छाया के सँग-सँग
हरित घाटियाँ चलती प्रतिक्षण,
वन के भीतर उड़ता चंचल
चित्र तितलियों का कुसुमित वन;
रँग-रँग के उपलों पर रणमण
उछल उत्स करते कल गायन,
झरनों के स्वर जम-से जाते
रजत हिमानी सूत्रों मे घन !

भीम विशाल शिलाओं का वह
मौन हृदय में अब तक अंकित,
फेनों के जल - स्तम्भों-से वे
निर्झर रभस वेग से मुखरित;
चीड़ों के तरु वन का तम
साँसें भरता मन में आन्दोलित,
दरियों की गहरी छायाएँ
ज्योतिरिंगणों से थी गुम्फित !

गाते उर में क्षिप्र स्रोत,
लहराते सर तुषार के निर्मल,
सौरभ की गुञ्जित अलकों से
छू समीर उर करता शीतल;
नीली पीली हरी लाल
चपलाओं का नभ जगता चचल
रजत कुहासे में, क्षण में,
माया प्रान्तर हो जाता ओझल !

मदन दहन की भस्म अनिल में
उड़, अब तक तन करती पुलकित,

सती अपर्णा के तप से
वनश्री अवाक्-सी लगती विस्मित;
अब भी ऊषा वहाँ दीखती
वधू उमा के मुख-सी लज्जित,
बढ़ती चंद्र कला भी गिरजा-सी
ही गिरि के क्रोड़ में उदित !

अब भी वही वसंत विचरता
पुष्प शरों से भर दिगंत स्मित,
गंधोद्दाम धरा वह ही, पाषाण
शिलाएँ पुलक पल्लवित !
अब भी प्रिय गौरा का शैशव
वर्णन करते खग पिक मुखरित,
देवदारु के ऊर्ध्व शिखर
वैसे ही शंकर-से समाधि-स्थित !

१९४५]

प्रभात का चाँद

नील पंक में धँसा अंश जिसका
उस श्वेत कमल - सा शोभन
नभोनीलिमा में प्रभात का
चाँद उनींदा हरता लोचन !
इसमें वह न निशा की आभा,
दुग्ध फेन-सा यह नव कोमल
मानवीय लगता नयनों को
स्नेहपक्व सकरुण मुख मंडल !
तिरते उजले बादल नभ मे
बेला कलियों से कुम्हलाएँ

उड़ता सँग सँग नाग दंत सा
चाँद सीप के पर फैलाए !
आभा इसकी हुई अंतरित
यह शशि मानो भू का वासी,
यह आलोक मनस् है, मुख पर
जीवन श्रम की भरी उदासी !
दिव्य भले लगता हो किरणों से
मंडित निशिपति का आनन,
गौर मांस का-सा यह शशि-मुख
भाता मुझको ज्योति प्राण मन !
उदित हो रहा भू के नभ पर
स्वर्ण-चेतना का नव दिनकर,
आज सुहाते भू जीवन के
पावन श्रमकण मानव मुख पर !
ऐसे ही परिणत आनन-सा
यह विनम्र विधु हरता लोचन,
भू के श्रम से सिक्त, नम्र
मानव के शारद मुख-सा शोभन !

१९४५]

लोरी

लोरी गाओ, लोरी गाओ,
फूल-दोल में उसे झुलाओ,
निंदिया की प्रिय परियो, आओ,
मुन्ना का मुख चूम सुलाओ !
स्वप्नों के छाया-पंखों को
नन्हे के ऊपर सिमटाओ !

चंद्र लोक की परियो, आओ
स्मिति से सुधा-अधर रंग जाओ,
मलय - सुरभि की चंचल परियो,
साँसों से आँचल भर लाओ!
जुगनूँ झमका, वन की परियो,
झिलमिल कर पलकें झपकाओ,
रिमझिम कर, मेघों की परियो,
लालन का गा हृदय रिझाओ!

अहरह उर कंपन में दोलित,
मर्म स्पृहा की मूर्ति देख स्मित,
मुग्ध नव जननि, बलि बलि जाओ,
लाड़ लुटाओ, प्यार लुटाओ,
लोरी गाओ!

[१६४६]

कैशोर

देख चुके ये शरद पंच दस,
शिशिर वसंत ग्रीष्म हिम पावस,
उदित अस्त अब होता दिनकर,
घटता बढ़ता रवि प्रभ हिमकर;
स्वप्नों का तारापथ सुन्दर,
ज्वलित ज्योति पिंडों से भास्वर!
राहु केतु से चंद्र रवि ग्रसित
होते भू शशि गति से निश्चित!
दिवस पाख बहु मास बदलते
ऋतु संवत्सर!

कथा इन्द्र की इन्हें सब विदित
इन्द्र धनुष क्यों सप्त रंग स्मित,
तडिल्लता क्यों खिलती कुछ क्षण,
घन घमंड क्या करता घोषण !
वाष्प पंख के बादल जलधर
बरस बरस धरती पर उर्वर
हँसमुख हरियाली देते भर !

परियाँ हुई अदृश्य, बंद अब दंत कहानी,
अब वे राजकुमार न अब वे राजा रानी !
अब भूगोल-गणित-इतिहास ग्रथित पृष्ठों पर
चित्र प्रकृति से विस्मित चितवन गड़ी निरंतर !
चपल विश्व के रूप - रंग बन काले अक्षर
रेंग पाँति में रहे चींटियों-से हिलडुल कर !
जाने, बाहर दृष्टि दौड़ जाती कब चंचल
राजधानियाँ हो जातीं भूतल से ओझल !
नीले नभ पर, गिरि प्रांतर पर, खग नीड़ों पर
छाया पथ से स्वप्न क्षितिज में उड़ता अंतर !
चिड़ियों के पर, हिमजल के मोती बटोर कर
झरनों के फेनों सँग हँसता कलरव से भर !

क्या हैं ये इतिहास, युद्ध सम्राट्, प्रथित जन,
विविध शास्त्र, विज्ञान ? इन्हीं का रे गत जीवन !
इनके आविष्कार सभी, इनके अन्वेषण,
युग युग की शैशव अनुभूति वहन करता मन !
फिर से ये करते अतीत का सिंहालोकन
कहाँ आज है विश्व ! कहाँ अब मानव जीवन ?
किन तंत्रों से भू पर जीव नियति प्रतिपालित !
किन मूल्यों से जीवन की इच्छा परिचालित !

किन आदर्शों से मानव भावी हो शासित ?
किस प्रकार हो विश्व सभ्यता संस्कृति विकसित ?

तारुण्य

हृदय पुष्ट नव युग्मों का तन,
रुधिर वेग में झंकृत जीवन;
आत्म भाव से विस्तृत लोचन,
शौर्य वीर्य से विकसित नव मन ।

नहीं मानता उर दुविधाएँ बाधा बंधन,
वह निःशंक, निर्भीक, सह्य उसको न नियन्त्रण !
चिर अदम्य उत्साह हृदय में स्पन्दित प्रतिक्षण,
यह यौवन की आशा अभिलाषा का प्लावन !
अह, क्या करती रहीं पलित पीढ़ियाँ आज तक
रक्त पंक जन धरणी का इतिहास भयानक,
रोग, शोक, मिथ्या, विश्वास, अविद्या व्यापक
नंगे भूखे लूलों का जग हृदय विदारक !
कौन रहे इस क्रूर सभ्यता के संस्थापक,
यह जन-नरक कलक मनुजता का, भू पातक !

बदलेंगे हम चिर विषण्ण वसुधा का आनन,
विद्युत गति से लावेंगे जग में परिवर्तन,
क्यों न मंजरित युवकों का हो विश्व संगठन,
नव यौवन आदर्शवादिता अरे न नूतन !
क्या करते ये धनकुबेर, पंडित वैज्ञानिक,
दिशाभ्रांत क्यों हो जाते राष्ट्रों के नाविक;
ज्ञात नहीं क्या लोक नियति है आज भू पथिक,
वर्ग राष्ट्र से लोक धरा का श्रेय है अधिक !

दिवस ज्योति-सा सार सत्य यह गोचर निश्चित,
मनुष्यत्व है रीति नीति धर्मों से विस्तृत;
संस्कृति रे परिहास, क्षुधा से यदि जन कवलित,
कला कल्पना, जो कुटुम्ब तन नग्न, गृह रहित !
आओ, मुक्त कण्ठ से सब जन
भू मंगल का गावें गायन,
वंदे मातरम् !

जन धरणीं जन भरणीं
रत्न प्रसविनीं मातरम् !
नृत्य हरित पिक कूजित यौवन,
अनिल तरंगित उदधि जल वसन,
छत्र सूर्य शशि दीप्त नत गगन,
प्रणयाकांक्षी स्वर्ग चिरन्तन,
वंदे मातरम् !

बजे क्रान्ति तूरी जन मादन,
कुडुम कुडुम हो जय दुदुभि स्वन,
जीवन हित मानव वरे मरण,
मृत्यु अंक में भी गावें जन,
वंदे मातरम् !

भू मन के टूटें जड़ बन्धन,
रूढ़ि रीति से मुक्त बनें मन,
दैन्य दुरति के हटे तमस घन,
स्वर्ण प्रभात जड़ित हों प्रांगण !
वंदे मातरम् !

दिशा लोक श्रम से हो हर्षित,
काल विश्व रचना में योजित

भव संस्कृति मे देश हों ग्रथित-
जन सम्पन्न, जगत् मनुजोचित,
वंदे मातरम् !

१९४६]

वार्धक्य

शेष पथ : श्वसित शिशिर की वात,
शिला शीतल प्राणों का ताप,
गिर रहे पीले जीवन पात,
विरस क्षण, सिसक, खिसक चुपचाप !
अस्थि पंजर अब जग की डाल
भर रहीं हिल हिल ठंडी साँस
कुहासे में स्मृति के आवृत
विगत यौवन के चल मधुमास !

भूल फूलों के आलिंगन
वात हत लतिका भू लुंठित,
न अब वह गुंजित तरु जीवन,
न जीवन संगिनि ही परिचित !
न वह मधु रस, न रंग गुंजार,
धूलि धूसर गम्भीर दिगंत,
फूल फूल, रच भव स्वप्न असार,
बीज में लय फिर हुआ अनन्त !

दृगों में हँसते जीवन अश्रु,
कमल में ज्यों हिम जल थर् थर्;
शान्त नीरव आत्मिक सन्तोष
गया भव क्लान्त हृदय में भर !

रूप रंगों की मांसल देह
तीलियों की अब त्वक् पिंजर,
गूढ़ नि:शब्द गिरा में लीन
मुखर खग के अन्तर्मुख स्वर !

चल रहा झुक लाठी पर आज
वृद्ध, जीवन के प्रति साभार,
छोड़ चेतन जड़ का अवलम्ब
करेगा मृत्यु-द्वार फिर पार !
अकेला वह विशिष्ट रे पांथ,
न पथ के संग यात्रा का अन्त,
विश्व में रिक्त व्यक्ति का स्थान
नहीं भर सकता स्वयं अनन्त !

मारता वह विनोद से आँख
देख नव युवति युवक को साथ,
झुर्रियाँ हँसतीं नीरद हास,
फूलता पेट, झूलता माथ !
पक्व जीवन का फल वह पूर्ण,
तृप्त उर, चर्म रंध्र चरितार्थ,
खींच सकते न देह मन प्राण
विश्व प्राणों से सार पदार्थ !

व्यग्र रे अमृत अनिल में आज
व्याप्त होने को ज्यों क्षण श्वास,
विकल उड़ने को खग, पर खोल,
छोड़ भस्मान्त देह तरुवास !
पितामह पलित कांस के केश,
पुत्र प्रिय पौत्रों का अब घर,

वधू अंचल में नव शिशु देख
सोचता कुछ तटस्थ अंतर !

क्या है मृत्यु ? गहन अतर में
उठता रह रह प्रश्न भयानक,
शेष यहीं हो जाएगा क्या
जीवन का करुणांत कथानक !
खुलते हैं स्मृति के पट पर पट,
विगत दृश्य होते क्षण गोचर,
स्वप्न चित्र-से वर्ष आयु के
उड़ते धूमयोनि-से नभ पर !

अह, तृष्णा के वाष्पों की क्या
माया यह भंगुर जग जीवन ?
सोया काल दिशा शय्या पर
स्वप्न देखता या क्या क्षण क्षण ?
देह निधन का द्वार पार कर
आत्मा कहाँ करेगी विचरण ?
क्या जीवन की गोपन तृष्णा
केवल जन्म मरण का कारण ?

आत्म मुक्ति के लिए क्या अमित
यह ग्रह ग्रथित रंग भव सर्जित,
प्रकृति इन्द्रियों का दे वैभव
मानव तप कर मुक्त बने नित ?
नहीं संत कुल हुआ संत रे
जीव प्रकृति के सब जन निश्चित,
लोक मुक्ति ही ध्येय प्रकृति का
मनुज करें जग जीवन निर्मित ?

तन से ही कर नव तन धारण
अमर चेतना करती सर्जन,
चेतन की भव मुक्ति के लिए
वाहन जड़ तन, मात्र न बंधन !
मुक्त सृजन आनन्द को स्वत:
रूपों का नव बंधन स्वीकृत,
आत्मा जीर्ण वसन तज रज का
नव वसनों में होती भूषित !

आंशिक लगा उसे जीवन का
जड़ चेतन का बौद्धिक दर्शन,
जड़ चेतन से परे अगोचर,
जीवन के हैं मूल सनातन !
अन्न प्राण मन आत्मा केवल
ज्ञान भेद हैं सत्य के परम,
इन सब में चिर व्याप्त ईश रे
मुक्त सच्चिदानन्द चिरतन !

आज समस्त विश्व मंदिर सा
लगता एक अखंड चिरंतन,
सुख दुख जन्म मरण नीराजन
करते, कहीं नहीं परिवर्तन !
ऊषा के स्वर्णिम गुंठन से
आभा अमर स्पर्श करती मन,
पदतल पर श्लथ जीवन छाया
सम्मुख ज्योति देश अब नूतन !
पुण्य हरित भू का दूर्वादल
पाप ताप में सतत अकलुषित,

स्वर्ग चेतना सदृश उतर अब
उस पर धूप खड़ी ज्यों जीवित !
टूटी मन की जाग्रत् निद्रा
क्षीण अहम् का शशि छायानन,
विहगों के प्रातःकलरव में
मिलता शाश्वत लोक जागरण !
विनत पद्म संध्या आँगन में
मौन प्रार्थना, आत्म समर्पण
ताराओं के स्तिमित स्वर्ग में
सोई अपलक शान्ति चिरंतन !

खुला गगन में आज मुक्त मन,
नील योनि में अब वह सुन्दर,
आसन में केवल उसका तन
अंतरतम में स्थित अब अन्तर !
अटल शान्ति में भव संघर्षण,
अमृत अंक में जन्म औ' मरण,
अतल अकूल चेतना सागर
क्षुब्ध मात्र भव सलिल आवरण !

हुआ हृदय में स्फुरित अचानक
सत्य निखिल जग में जो व्यापक,
कहाँ देखता रहा यह अथक,
क्या ? वह जिससे रे नित अपृथक् !
लगा उसे युग युग से संचित
मनोद्रव्य से संस्कृति निर्मित,
नीति धर्म आदर्श जीर्ण मृत
जन समाज जीवन में गुंफित !

जाति वर्ण गौरव से पीड़ित
वर्ग राष्ट्र स्वार्थों में सीमित
जन समुद्र रे आज अचेतन
अंध प्रवेगों से आन्दोलित !
नव मानों से हो जो कल्पित
पुनः लोक संस्कृति पट ज्योतित,
हो कृत काम नियति मानव की
स्वर्ग धरा पर विचरे जीवित !

भू पर जन सत्ता हो विकसित
अंतर्जीवन से सम्बन्धित,
शिल्पी-सी चेतना जागरित,
करे लोक मानव मन निर्मित !
भू रचना का भूति-पाद युग
हुआ विश्व इतिहास में उदित,
सहिष्णुता सद्भाव शान्ति से
हों गत संस्कृति धर्म समन्वित !

वृथा पूर्व पश्चिम का दिग् भ्रम
मानवता को करे न खंडित,
बहिर्नयन विज्ञान हो महत्
अंतर्दृष्टि ज्ञान से योजित !
पश्चिम का जीवन सौष्ठव हो
विकसित विश्व तंत्र में वितरित,
प्राची के नव स्वर्णोदय से
ज्योति द्रवित भू तमस तिरोहित !
लोक नियति निर्माण करें नव
देश देश से विबुध विपश्चित

राष्ट्र नायकों के संग दुर्वह
राज कर्म में हों सक्रिय चित!
सर्वोपरि मानव संस्कृत बन
मानवता के प्रति हो प्रेरित;
द्रव्य मान पद यश कुटुम्ब कुल
वर्ग राष्ट्र में रहे न सीमित!
एक निखिल धरणी का जीवन
एक मनुजता का संघर्षण,
अर्थ ज्ञान संग्रह भव पथ का
विश्व क्षेम का करे उन्नयन!

नहीं ज्ञान से होता अविकल
समाधान मानव के मन का,
व्यक्ति विश्व से ही रे केवल
है सम्बन्ध नहीं जीवन का!
गूढ़ रहस्यों के अभेद्य स्तर
जिन पर जीवन की गति निर्भर
अवचेतन प्रच्छन्न मनस् का
निस्तल अविच्छिन्न रे सागर!

वयस भार से झुका धनुष सा
पृष्ठ वंश: रेखांकित आनन,
दृष्टि क्षुधा निद्रा भी क्रमश:
शिथिल हुई अब, मन्द स्मृति श्रवण!
प्रात: ब्राह्म मुहूर्त में स्वत:
खुल जाते यात्री के लोचन
एकाकी अन्तर करता तब
प्रभु से नीरव आत्म निवेदन!

हे जीवन-आराध्य, हृदय वासी, हे मानव ईश्वर
मंगलमय, तुम सर्वप्रथम अक्षय करुणा के सागर !
माता पिता पुत्र भार्या, निज पर, जन्मों के सहचर
विश्व योनि, तुममें अनादि से जग के निखिल चराचर !
आते जाते जन्म मरण बहु तन में शैशव यौवन,
आशाऽकांक्षा राग द्वेष मन में करते संघर्षण !
नीति धर्म आदर्श विविध बनते जीवन में बन्धन,
तुम में जगते दिशा काल, लय होते, देव परात्पर !

खोज निरन्तर तुम्हें, अपरिमित महिमा से हो विस्मित,
नेति नेति कह बुद्धि मनुज की कब से प्रणत, चमत्कृत;
हृदय सुलभ तुम, सहज कृपा कर देती उर तम ज्योतित,
ज्यों पारस का परस अयस का स्वर्ण रहस रूपान्तर !
सदसद्, कारण-कार्य प्रकृति के केवल मात्र प्रयोजन,
देव, तुम्हारी अमित दया से होता भव का पालन;
तुमसे रहित अचिर अपूर्ण जग, तुमसे पूर्ण चिरन्तन
तुम हो, भव है : शून्य एक के गुण से गणित निरन्तर !
तुमसे जो मन युक्त, सकल जग जीवन हो आराधन,
प्रेम, तुम्हारे हित माया का पाश मुक्ति हो प्रतिक्षण;
तुममें केन्द्रित लोक योजना बने स्वर्ग की पावन,
मानव के घटवासी, दो मानव को नव जीवन वर !

१६४६]

युग विषाद

गरज रहा उर व्यथा भार से
गीत बन रहा रोदन

आज तुम्हारी करुणा के हित
कातर धरती का मन !
मौन प्रार्थना करता अन्तर
मर्म कामना भरती मर्मर,
युग सन्ध्या : जीवन विषाद से
आहृत विश्व समीरण !

जलता मन मेघों का सा घर
स्वप्नों की ज्वाला लिपटा कर,
दूर क्षितिज के पार दीखती
रेख क्षितिज की नूतन !
बढ़ते अगणित चरण निरन्तर
दुर्दम आकांक्षा के पग धर,
खुलता बाहर तम कपाट,
भीतर प्रकाश का तोरण !
श्रांत रक्त से लथपथ जन-मन,
नव प्रभात का यह स्वर्णिम क्षण,
युग युग का खंडहर जग करता
अभिनव शोभा धारण !

१६४८]

युग छाया

दारुण मेघ घटा घहराई
युग सन्ध्या गहराई !
आज धरा प्रांगण पर भीषण
झूल रही परछाईं !

तुम विनाश के रथ पर आओ,
गत युग का हत शव ले जाओ,
गीध टूटते, श्वान भूँकते,
रोते शिवा विदाई !
मनुज रक्त से पंकिल युग पथ
पूर्ण हुए सब दैत्य मनोरथ,
स्वर्ग रुधिर से अभिषेकित अब
नव युग की अरुणाई !

नाचेगा जब शोणित चेतन,
बदलेगा तब युग निरुद्ध मन,
कट मर जाएँगे युग दानव,
सुर नर होंगे भाई !
ज्ञात मर्त्य की मुझे विवशता,
जन्म ले रही नव मानवता,
स्वप्न द्वार फिर खोल उषा ने
स्वर्ण विभा बरसाई !

१६४८]

काव्य चेतना

तुम रजत वाष्प के अम्बर से
बरसाती शुभ्र सुनहली झर,
शोभा की लपटों में लिपटा
मेघों का माया कल्पित घर !
सुर प्रेरित ज्वालाएँ कँपतीं
फहरा आभाएँ आभा पर,

शत रोहितप्रभ छायाओं से
भर जाता तडित् चकित अंतर !

सुषमा की पंखड़ियाँ खुलतीं
फैला रहस्य स्पर्शों के दल,
भावों के मोहित पुलिनों पर
छाया प्रकाश बहता प्रतिपल !
सतरंगे शिखरों पर उठ गिर
उड़ता शशि सूरज सा उज्ज्वल,
चेतना ज्वाल सी चन्द्र विभा
चू पड़ती प्राणों में शीतल !

जलते तारों सी टूट रहीं
अब अमर प्रेरणाएँ भास्वर,
स्वप्नों की गुंजित कलिकाएँ
खिल पड़ती मानस में निःस्वर !
तुम रहस द्वार से मुझे कहाँ
गीते, ले जाती हो गोपन,
शोभा में जाता डूब हृदय
पा स्पर्श तुम्हारा सुर-चेतन !

१९४८]

गीत विहग

मैं नव मानवता का संदेश सुनाता,
स्वाधीन लोक की गौरव गाथा गाता,
मैं मनःक्षितिज के पार मौन शाश्वत की,
प्रज्वलित भूमि का ज्योतिवाह बन आता !

युग के खँडहर पर डाल सुनहली छाया
मैं नव प्रभात के नभ में उठ, मुसकाता,
जीवन पतझर में जन मन की डालों पर
मैं नव मधु के ज्वाला पल्लव सुलगाता !

आवेशों से उद्वेलित जन सागर में
नव स्वप्नों के शिखरों का ज्वार उठाता,
जब शिशिर क्रान्त, वन-रोदन करता भू मन,
युग पिक बन प्राणों का पावक बरसाता !
मिट्टी के पैरों से भव-क्लांत जनों को
स्वप्नों के चरणों पर चलना सिखलाता,
तापों की छाया से कलुषित अंतर को
उन्मुक्त प्रकृति का शोभा वक्ष दिखाता !

जीवन मन के भेदों में सोई मति को
मैं आत्म एकता में अनिमेष जगाता
तम पंगु बहिर्मुख जग में बिखरे मन को
मैं अंतर सोपानों पर ऊर्ध्व चढ़ाता !
आदर्शों के मरु जल से दग्ध मृगों को
मैं स्वर्गंगा स्मित अंतर्पथ बतलाता,
जन जन को नव मानवता में जाग्रत कर
मैं मुक्त कंठ जीवन रण शंख बजाता !

मैं गीत विहग, निज मर्त्य नीड़ से उड़ कर
चेतना गगन में मन के पर फैलाता,
मैं अपने अंतर का प्रकाश बरसा कर
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता !
मैं स्वप्नों को बाँध मनोभावों में
जन जीवन का नित उनको अंग बनाता

मैं मानव प्रेमी, नव भू स्वर्ग बसा कर
जन धरणी पर देवों का विभव लुटाता !

मैं जन्म मरण के द्वारों से बाहर कर
मानव को उसका अमरासन दे जाता,
मैं दिव्य चेतना का सन्देश सुनाता,
स्वाधीन भूमि का नव्य जागरण गाता !

१९४८]

युग दान

जीवन बाँहों मे बांध सकूं
सौन्दर्य तुम्हारा नित नूतन,
जन मन में मैं भर सकूं अमर
संगीत तुम्हारा सुर मादन !
आनन्द तुम्हारा बरस सके
भव व्यथा क्लान्त उर के भीतर,
जग जीवन का बन सके अंग
देवत्व तुम्हारा लोकोत्तर !
करुणा धारा से मानव का
भू निर्मम अन्तर हो उर्वर,
संयुक्त कर्म जग जीवन के
तुमको अर्पित हों उठ ऊपर !
अब मनुष्यत्व से मनोमुक्त
देवत्व रहा रे शनैः निखर,
भू मन की गोपन स्पृहा-स्वर्ग
फिर विचरण करने को भू पर !

यह अन्धकार का घोर प्रहर,
हो रहा हृदय चेतना द्रवित,
फिर मानवीय बन जाग रहीं
जड़ भूत शक्तियाँ अभिशापित
तरुओं के सिर पर पुष्प मुकुट
ज्यों गंध पवन उर में मादन,
जीवन से मन से फूट रहे
तुम नव श्री शोभा में चेतन !

१९४८]

निर्माण काल

लो, आज झरोखों से उड़कर
फिर देवदूत आते भीतर,
सुर धनुओं के स्मित पंख खोल
नव स्वप्न उतरते जन भू पर !
रँग रँग के छाया पंखों सी
आभा पंखड़ियाँ पड़तीं झर,
फिर मनोलहरियों पर तिरतीं
बिम्बित सुर अप्सरियाँ निःस्वर !
यह रे भू का निर्माण काल
हँसता नव जीवन अरुणोदय,
ले रही जन्म नव मानवता
अब खर्व मनुजता होती क्षय !
धू - धू कर जलता जीर्ण जगत,
लिपटा ज्वाला में जन अंतर,

तम के पर्वत पर टूट रही
विद्युत् प्रपात सी ज्योति प्रखर !
संघर्षण पर कटु संघर्षण
यह दैविक भौतिक भू कंपन,
उद्वेलित जन मन का समुद्र,
युग रक्त जिह्व करता नर्तन !
ढह रहे अंध विश्वास शृंग,
युग बदल रहा, यह ब्रह्म अहन्,
फिर शिखर चिरन्तन रहे निखर
यह विश्व संचरण रे नूतन !
बज रहे घंटियों-से तरुदल
छवि ज्वाल पल्लवित जग जीवन,
नव ज्योति चरण धर रहा सृजन,
फिर पुष्प वृष्टि करते सुरगण !
अब स्वर्ण द्रवित रे अंतर्नभ
झरते नीरव शोभा निर्झर,
अवतरित हो रहीं सूक्ष्म शक्ति
फिर मौन गुंजरित उर अम्बर !
बँधता प्रकाश तम-बाहों में
सुर मानव तन करते धारण,
फिर लोक चेतना रंग भूमि,
भू स्वर्ग कर रहे परिरंभण !

१९४८]

जीवन दान

मैं मुट्ठी भर बाँट सकूँ
जीवन के स्वर्णिम पावक कण,

वह जीवन जिसमें ज्वाला हो,
मांसल आकांक्षा हो मादन !
वह जीवन जिसमें शोभा हो,
शोभा सजीव, चंचल, दीपित,
वह जावन जिसको मर्म प्रीति
सुख दुख से रखती हो मुखरित !

जिसमें अतर का हो प्रकाश,
जिसमें समवेत हृदय स्पंदन,
मैं उस जीवन को वाणी दूँ
जो नव आदर्शों का दर्पण !
जीवन रहस्यमय, भर देता
जो स्वप्नों से तारापथ मन
जीवन रक्तोज्ज्वल, करता जो
नित रुधिर शिराओं में गायन !

इसमें न तनिक संशय मुझको
यह जन भू जीवन का प्रांगण,
जिसमें प्रकाश की छायाएँ
विचरण करती क्षण-ध्वनित चरण !
मैं स्वर्गिक शिखरों का वैभव
हूँ लुटा रहा जन धरणी पर,
जिसमें जग जीवन के प्ररोह
नव मानवता में उठें निखर !

देवों को पहना रहा पुनः
मैं स्वप्न-मांस के मर्त्य वसन,
मानव आनन से उठा रहा
अमरत्व ढंके जो अवगुंठन !

[६४८]

गांधी युग

देख रहा हूँ, शुभ्र चाँदनी का-सा निर्झर
गांधी युग अवतरित हो रहा जन धरणी पर !
विगत युगों के तोरण, गुंबद, मीनारों पर
नव प्रकाश शोभा रेखाओं का जादू भर !
संजीवन पा जाग उठा हो राष्ट्र का मरण,
छायाएँ सी आज चल रहीं भू पर चेतन—
जन मन में जग, दीप शिखा के पग धर नूतन,
भावी के नव स्वप्न धरा पर करते विचरण !

सत्य अहिंसा बन अन्तर्राष्ट्रीय जागरण
मानवीय स्पर्शों से भरते धरती के व्रण !
झुका तडित्-अणु के अश्वों को, कर आरोहण,
नव मानवता करती गांधी का जय घोषण;
मानव के अंतरतम शुभ्र तुषार के शिखर
नव्य चेतना मंडित, स्वर्णिम उठे अब निखर !

१९४८]

भारत गीत

जय जन भारत, जन मन अभिमत,
जन गण तंत्र विधाता !
गौरव भाल हिमालय उज्ज्वल,
हृदय हार गंगा जल,
कटि विन्ध्याचल सिन्धु चरण तल
महिमा शाश्वत गाता !

हरे खेत, लहरे नद निर्झर
जीवन शोभा उर्वर,
विश्व कर्म रत कोटि बाहु कर
अगणित पद ध्रुव पथ पर !
प्रथम सभ्यता ज्ञाता, साम ध्वनित गुण गाथा,
जय नव मानवता निर्माता,
सत्य अहिंसा दाता !
जय हे जय हे जय हे, शांति अधिष्ठाता
प्रयाण तूर्य बज उठे
पटह तुमुल गरज उठे !
विशाल सत्य सैन्य, लौह भुज उठे !
शक्ति स्वरूपिणि, बहुबल धारिणि, वंदित भारत माता !
धर्म चक्र रक्षित तिरंग ध्वज अपराजित फहराता !
जय हे जय हे जय हे, अभय, अजय, त्राता !

वर्षा गीत

नीलांजन नयना,
उन्मद सिन्धु सुता वर्षा यह
चातक प्रिय वयना !
नभ में श्यामल कुंतल छहरा
क्षिति में चल हरितांचल फहरा,
लेटी क्षितिज तले, अर्धोत्थित
शैल माल जघना !
इच्छाएँ करतीं उर मंथन,
चिर अतृप्ति भरती गुरु गर्जन,
मुक्त विहँसती मत्त यौवना
स्फुरित तडित् दशना !

रजत बिन्दु चल नूपुर झंकृत,
मंद मुरज रव नव घन घोषित
मुग्ध नृत्य करती बहँस्मित
कल बलाक रसना !
बकुल मुकुल से कबरी गुंफित
श्वास केतकी रज से सुरभित,
भू नभ को बाँहों में बांधे
इंद्रधनुष वसना !

१९५०]

अणु विस्फोट

(अस्त-व्यस्त वेश में सहसा भयभीत नागरिकों का प्रवेश)
दौड़ रहे शत प्रलय धरा का वक्ष चीरते,
रौंद रहीं पावक की लपटें भूधर पग धर,
टूट पड़े शत नरक, बरसते रुंड मुंड हत,
छूट गए रौरव के भूत पिशाच प्रेत हों !
कड़ कड़ करते क्रुद्ध वज्र, फट फट पड़ते सिर,
रक्त मांस मज्जा उड़ते क्षण धूम भाप बन—
फूट गया पृथ्वी के भीषण पापों का घट !
लुंज पुंज मांसल तन पल में होते ओझल
चटक अस्थि-पंजर क्षण में मिटते भूरज में;
तंतु जाल-सी त्वचा सिहरती झुलस ताप से,
छिन्न पसलियाँ, छितर टहनियों-सी पतझर की,
चरमर जल उठतीं पल में शत मोम शिखा-सी !
चीत्कारें करतीं चीत्कारें छूट कंठ से,
गूंज प्रतिध्वनियों-सी, तत्क्षण देहमुक्त हो,

बाल वृद्ध स्त्री पुरुष युवक, अगणित निरीह जन
निर्मम वेदी पर चढ़ते दारुण विनाश की !
महामृत्यु मुँह फाड़ भयानक नरक गुहा-सा
निगल रही भू को, साँसों में खींच मशक सी,—
औंधे मुँह गिर नगर लोटते धरा गर्भ में,
गर्तों में धँस, उछल स्फीत धूमिल शिखरों में !
छायाओं से कँपते-उड़ते दृश्य पुरों के
भस्म शेष प्रासाद दीखते खड़े यथावत्—
घूम रहे भू-प्रांत, भँवर में पड़ी नाव-से !
छाई घोर तुमुल विभीषिका जन-धरणी पर
बरस रही पावक धाराएँ रक्त सूर्य से !
भय, विभीत हो रहा भयकरता में अपनी,
भगदड़ हो मच गई प्रकृति के तत्त्वों में ज्यों—
भाग रहा जीवन अपनी ही छाया से डर,
निज अतिम चरणों पर लँगड़ाता, डगमग डग !

(तेजी से प्रस्थान)

(सैनिक तथा श्रमिकों के वेश में कुछ लोगों का प्रवेश)

कुछ स्वर—

जूझ रहे अणु के दानव से भू के जनगण,
जूझ रहे हैं महानाश से अपराजित जन,
अब निसर्ग के तत्त्वों ने अपना अदम्य बल
जन मन में भर दिया, मनुज की मांसपेशियाँ
पर्वत-सी उठ, रोक रहीं दुर्घर्ष शत्रु को !
नाच रहा जन के शोणित में जीवन पावक,
दौड़ रहीं उन्मत्त शिराओं में शत विद्युत्,
बहते हैं उनचास पवन उनकी श्वासों में !

भीत नहीं होगा मानव इस महानाश से,
विश्व ध्वंस से लोक करेंगे नव जग निर्मित—
श्री समत्वमय मनुष्यत्व को नव्य जन्म दे !

कुछ स्वर—

फिर से मानव-शिशु खेलेंगे भू श्मशान में,
पुनः बहेगी जग के मरु में जीवन धारा;
मरुत भर रहे प्रबल शक्ति जन के प्राणों में,
विस्तृत करता वरुण तरुण वक्षःस्थल उनका,
भस्मसात् कर रही अग्नि जीवन का कर्दम,
मुक्त हो रहा इन्द्रासन फिर महाव्याल से !
शेष ऊर्ध्व फन खोल उठाता भू को ऊपर,
फहराते दिङ्नाग मनुज की विजय ध्वजा को !

१६५१]

जिज्ञासा

कौन स्रोत ये !
ये किन आकाशों में खोए
किन अवाक् शिखरों से झरते ?
किस प्रशांत समतल प्रदेश में
रजत फेन मुक्तारव भरते !
ये किन स्वच्छ अतलताओं की
मौन नीलिमाओं में बहते ?
किस सुख के स्पर्शों से, स्वर्णिम
हिलकोरों में कँपते रहते !
कौन स्रोत ये !

किरणों के वृन्तों पर खिलते
भावों के सतरंग स्वप्नोत्पल,
मनोलहरियों पर बिंबित कर
रक्त पीत सित नील ज्योति दल !

नामहीन सौरभ में मज्जित
हो उठता उच्छ्वसित दिगंचल
रहस गुंजरण में लय होता
शब्दहीन तन्मय अंतस्तल !
कौन स्रोत ये !

श्रद्धा औ' विश्वास—रुपहले
राज मरालों के से जोड़े
तिरते सात्त्विक उर सरसी में
शुभ्र सुनहली ग्रीवा मोड़े !

शोभा की स्वर्गिक उड़ान से
भर जाता सहसा अपलक मन,
बजते नव छंदों के नूपुर
अलिखित गीतों के प्रियपद बन !

बह जाते सीमाओं के तट
हर्षों के ज्वारों में अविगत,
लहरा उठता अतल नील से
नाम रूप के ऊपर शाश्वत !
कौन स्रोत ये !

१९५४]

गिरि प्रांतर

उन नीलम ढालों पर लिपटे
रेशम से सुरधनु फहराते,
मरकत की घाटी में सुलगे
बन फूलों के झरने गाते !
आरोहों पर मधु मर्मर पी
निःस्वर रजत समीर विचरती,
दूध धुली, ऊनी भापों की
किरणों की भेड़ें हिम चरतीं !

उन क्षितिजों की ज्योत्स्नाओं में
परियाँ अभिसारों को आतीं
धूपछाँह वीथी में लुक छिप
हेम गौर शशि कला सुहाती !
घन नीहार ढली पीठों पर
साँझों की पग चाप बिछलतीं,
दिन में, धरती की सलवट-सी
मसृण घनों की छाया चलतीं !

भुजगों-सी कंधों पर लटकीं
रज की रश्मि रज्जु बल खातीं,
मंत्र मुग्ध पटबीजन झमका
जादू की कन्दरा लुभातीं !
चीलों-से मँडरा वन अंधड़
गूँगी खोहों में खो जाते,
शिशुओं-से हिम ग्रीष्म मचल शत
निर्जन पलनों में सो जाते !

पौ फटते, सीपिया नील से
गलित मोतिया कांति निखरती
उन शृंगों पर जगे मौन में,
सृजन कल्पना देही धरती !
झाँक झरोखे से स्वप्नों के
सलज उषा नख-शिख रँग जाती,
द्वाभाएँ हँस गिरि प्रांतर में
दिक् प्रभूत वैभव बरसातीं !

१९५४]

आ : धरती कितना देती है !

मैंने छुटपन में छिपकर पैसे बोए थे,
सोचा था, पैसों के प्यारे पेड़ उगेंगे,
रुपयों की कलदार मधुर फसलें खनकेंगी,
और फूल-फलकर मैं मोटा सेठ बनूँगा !
पर बंजर धरती में एक न अंकुर फूटा
वंध्या मिट्टी ने न एक भी पैसा उगला !
सपने जाने कहाँ मिटे, कब धूल हो गए !
मैं हताश हो, बाट जोहता रहा दिनों तक
बाल कल्पना के अपलक पाँवड़े बिछाकर !
मैं अबोध था, मैंने गलत बीज बोये थे,
ममता को रोपा था, तृष्णा को सींचा था !
अर्धशती हहराती निकल गई है तब से !
कितने ही मधु पतझर बीत गए अनजाने,
ग्रीष्म तपे, वर्षा झूलीं, शरदें मुसकाईं,
सी-सी कर हेमन्त कँपे, तरु झरे, खिले वन !

औ' जब फिर से गाढ़ी ऊदी लालसा लिये,
गहरे कजरारे बादल बरसे धरती पर,
मैंने, कौतूहलवश, आँगन के कोने की
गीली तह को यों ही उँगली से सहलाकर
बीज सेम के दबा दिये मिट्टी के नीचे !
भू के अंचल में मणि-माणिक बाँध दिये हों !

मैं फिर भूल गया इस छोटी-सी घटना को;
और बात भी क्या थी, याद जिसे रखता मन !
किन्तु, एक दिन, जब मैं संध्या को आँगन में
टहल रहा था,—तब सहसा मैंने जो देखा,
उससे हर्ष विमूढ़ हो उठा मैं विस्मय से !
देखा, आँगन के कोने में कई नवागत
छोटी-छोटी छाता ताने खड़े हुए हैं !
छाता कहूँ कि विजय पताकाएँ जीवन की
या हथेलियाँ खोले थे वे नन्ही, प्यारी—
जो भी हो, वे हरे हरे उल्लास से भरे
पंख मारकर उड़ने को उत्सुक लगते थे;
डिम्ब तोड़कर निकले चिड़ियों के बच्चों-से !

निर्निमेष, क्षण भर, मैं उनको रहा देखता,—
सहसा मुझे स्मरण हो आया, कुछ दिन पहले,
बीज सेम के रोपे थे मैंने आँगन में
और उन्हीं से बौने पौधों की यह पलटन
मेरी आँखों के सम्मुख अब खड़ी गर्व से
नन्हें नाटे पैर पटक, बढ़ती जाती है !
तब से उनको रहा देखता—धीरे धीरे
अनगिनती पत्तों से लद, भर गईं झाड़ियाँ,

हरे भरे टँग गए कई मखमली चँदोवे !
बेलें फैल गईं बल खा, आँगन में लहरा,—
और सहारा लेकर बाड़े की टट्टी का
हरे हरे सौ झरने फूट पड़े ऊपर को !
मैं अवाक् रह गया वंश कैसे बढ़ता है !
छोटे, तारों-से छितरे, फूलों के छींटे
झागों-से लिपटे लहरी श्यामल लतरों पर
सुन्दर लगते थे, मावस के हँसमुख नभ-से
चोटी के मोती-से, आँचल के बूँटों-से !

ओह, समय पर उनमें कितनी फलियाँ टूटीं !
कितनी सारी फलियाँ, कितनी प्यारी फलियाँ,
पतली चौड़ी फलियाँ,—उफ, उनकी क्या गिनती!
लम्बी लम्बी अँगुलियाँ-सी, नन्हीं नन्हीं
तलवारों-सी, पन्ने के प्यारे हारों-सी,
झूठ न समझें, चन्द्र कलाओं-सी, नित बढ़तीं,
सच्चे मोती की लड़ियों-सी, ढेर ढेर खिल,
झुड-झुंड झिलमिलकर कचपचिया तारों-सी !
आः इतनी फलियाँ टूटीं, जाड़ों भर खाईं !
सुबह शाम वे घर घर पकीं, पड़ौस पास के
जाने अनजाने सब लोगों में बँटवाईं,
बन्धु, बाँधवों, मित्रों, अभ्यागत मँगतों ने
जी भर भर दिन रात मुहल्ले भर ने खाईं !
कितनी सारी फलियाँ, कितनी प्यारी फलियाँ !

यह धरती कितना देती है ! धरती माता
कितना देती है अपने प्यारे पुत्रों को !
नहीं समझ पाया था मैं उसके महत्व को !
बचपन में छिः, स्वार्थ लोभ वश पैसे बोकर !

रत्न प्रसविनी है वसुधा, अब समझ सका हूँ !
इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं,
इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं,
इसमें मानव ममता के दाने बोने हैं,
जिससे उगल सके फिर धूल सुनहली फसलें
मानवता की—जीवन श्रम से हँसें दिशाएँ !
हम जैसा बोयेंगे वैसा ही पायेंगे !

१९५४]

संदेश

मैं खोया खोया-सा, उचाट मन, जाने कब
सो गया, तखत पर लुढ़क, अलस दोपहरी में,
दुःस्वप्नों की छाया से पीड़ित, देर तलक
उपचेतन की गहरी निद्रा में रहा मग्न !

जब सहसा आँख खुली तो मेरी छाती पर
था असन्तोष का भारी रीता बोझ जमा !
मन को कचोटती थी उधेड़बुन जाने क्या,
अज्ञात हृदय मंथन-सा चलता था भीतर,—
अवसाद घुमड़ता था उर में, कड़ुवा, फीका !
सब अस्तव्यस्त विशृंखल लगता था जीवन,—
मेरा कमरा ही परिचित कमरा नहीं रहा,
जी ऊब ऊब उठता था, मन बैठा जाता !

मैं सोच रहा था, जाने क्या हो गया मुझे,
मन किन अनजानी डगरों में है भटक गया,
कितने अँधियारे कोने हैं मानव मन के !

कुछ किये नहीं बनता, दिन यों ही बीत रहे,
पानी-सी बहती आयु कभी क्या लौटेगी ?
इस निरुद्देश्य जीवन से किसको लाभ भला ?
भू भार बने रहने से तो मरना अच्छा !

इतने में मेरी दृष्टि फर्श पर जा अटकी,
जिस पर जाड़े की चिट्टी, ढलती, नरम धूप
खिड़की की चौखट को कुछ लम्बी तिरछी कर
थी चमक रही टूटे दर्पण के टुकड़े-सी—
पिघली चाँदी के थक्के-सी छलकी चौड़ी !
जाजिम पर थी बन गई तलैया मोती की—
जिसमें स्वप्नों की ज्वालाएँ लहराती थीं !
दूधिया भावना में उफान उठ आया हो !
मैं क्षण भर में मन के विषाद को भूल गया,
वह धूप स्निग्ध चेतना स्पर्श-सी लगी मुझे—
ज्यों राजहंस उतरा हो खिड़की के पथ से !
मेरा मन दुविधा मुक्त हो गया, दु:ख भूल,
घन के घेरे से निकल चाँद हँस उठता ज्यों !

वह मौन नीलिमा निलयों मे बसने वाली,
रुपहली घनों की अलकें सहलाने वाली,
वह सूर्यमुखी किरणो की परियों से वाहित
सुकुमार सरोरुह-से स्तनवाली सलज धूप !—
वह रजत प्रसारों में स्वर्णिम अँगड़ाई भर
ऊषा की स्वप्निल पलकों पर जगने वाली,
वह हेम हंस पंखों पर नित उड़ने वाली
गोरी ग्रीवा बाँहो वाली चपई धूप !—
वह तुहिन वाष्प के धूपछाँह वल्कल पहनी
सौरभ मरंद तन वाली, मलयज सनी धूप,

वह फूलों के मृदु मुखड़ों पर हँसने वाली
नीले ढालों पर सोने वाली सुघर धूप !—
वह हरी दूब के पाँवड़ पर चलने वाली
रेशमी लहरियों बीच बिछल जाने वाली,
वह मुक्ता स्मित सीपी के सतरंग पंख खोल
शत इंद्रधनुष फहराने वाली सजल धूप—

वह चाँदी की शफरी-सी उछल अतल जल से
चमकीला पेट दिखा अकूल के पावक का
मेरे कमरे के तुच्छ पटल पर, धूल भरे
मखमली गलीचे पर, चुपके सहमी बैठी,
मेरे कठोर उर को कृतज्ञता-कोमल कर
सुख द्रवित कर गई, प्रीति मौन संवेदन दे !
मैं उसे देख, श्रद्धा संभ्रम से उठ बैठा,
वह मुझे देख स्नेहार्द्र दृष्टि, मुसकुरा उठी !
वह विश्व प्रकृति की दूती बनकर आई थी,—
मैं स्मृति विभोर, स्वप्नस्थ हो उठा कुछ क्षण को,
वह मेरे ही भीतर से मुझसे यों बोली—

"क्या हुआ तुम्हें, ओ जीवन शोभा के गायक,
तुम ज्योति प्रीति आशा के स्वर बरसाते थे !—
उल्लास मधुरिमा, श्री सुषमा के छंद गूँथ
तुम अमरों को कर स्वप्न मूर्त, धर लाते थे !
क्यों आज तुम्हारी वीणा वह निःस्पद पड़ी,
क्यों अब पावक के तार न मधु वर्षण करते ?
कल्पना भोर के पंछी-सी उठ लपटों में
क्यों नहीं स्वप्न पंखी उड़ान भरती नभ में ?
"क्या सोच रहे हो ? उठो, क्षुब्ध मन शांत करो,
तुम भी क्या जग की चिन्ता के कर्दम में सन

संदेह दग्ध, उद्भ्रांत चित्त हो खोज रहे—
"क्या है जीवन का ध्येय, प्रयोजन संसृति का,
सुख दुख क्यों हैं, मानव क्यों है, या तुम क्यों हो ?

"तुम भी वादों के वेष्टन में मन को लपेट
मानव जीवन के अमिट सत्य का विकृत रूप,
गढ़ने को आतुर हो—सस्ता संस्करण एक
निर्मित कर उसका, थोथे तर्कों के बल पर ?—
जन सृजन चेतना को, विकास क्रम को अनंत
अंजलि पुट मे बंदी करने का साहस कर !!
या भौतिक मूल्यों की वेदी पर बलि देकर
मानव मूल्यों की, तुम धरती पर नया स्वर्ग
रचने को व्याकुल हो, यंत्रों के चक्रों में
मानव का हृदय कुचल, लोहे की टापों से ?
अथवा तुम हिंसक स्वार्थों के पंजे फैला
नोचना चाहते जीवन के सुन्दर मुख को !!

"तुम भूल गए क्या मातृ प्रकृति को ? तुम जिसके
आँगन में खेले कूदे, जिसके आँचल में
सोए जागे, रोए गाए, हँस, बड़े हुए !
जो बाल सहचरी रही तुम्हारी, स्वप्न प्रिया,
जो कला मुकुर बन गई तुम्हारे हाथों में,—
तुम स्वप्न-धनी हो जिसके बने अमर शिल्पी !
जिसने कोयल बन सिखलाया तुमको गाना,
मृदु गुंजन भर बतलाया मधु संचय करना,—
फूलों की कोमल बाँहों के आलिंगन भर !
जिसके रंगों की भावुक तूली से तुमने
शोभा के पदतल रँगे, मनुज का मुख आँका

जिससे लेकर मधु स्पर्श शब्द रस गंध दृष्टि
तुमने स्वर निर्झर बरसाये सुख से मुखरित !

"अब जन नगरों की अंधी गलियों में खोए
ऊँचे भवनों की काराओं में बंदी हो,
तुम अपनी ही चिन्ता में घुलते जाते हो !
क्या लोक मान मर्यादा की पा स्थूल दृष्टि
निज सूक्ष्म स्वप्नदर्शी दृग तुमने मूँद लिये ?
लो, मैं असीम का लाई हूँ संदेश तुम्हें !
आओ, फिर खुली प्रकृति की गोदी में बैठो,
फिर दिक् प्रसन्न जीवन के आँगन में खेलो,—
उद्देश्यहीन भी रहना जहाँ मधुर लगता !
फिर स्वप्न चरण धर विचरो शाश्वत के पथ पर
कल्पना सेतु बाँधो भावी के क्षितिजों में,
मन को विराट् की आत्मा से कर सर्वयुक्त
तुम प्यार करो, सुन्दरता से रहना सीखो,—
जो अपने ही में पूर्ण स्वयं है, लक्ष्य स्वयं !
कवि, यही महत्तर ध्येय मनुज के जीवन का !"

मैं मन की कुंठित कूप वृत्ति से बाहर हो,
चिन्ताओं के दुर्बोध भँवर से निकल शीघ्र
पाहुन प्रकाश के निरवधि क्षण में डूब गया,—
सुनहली धूप के करतल के शाश्वत में लय !
मन से ऊपर उठ, तन की सीमाओं से कढ़,
फिर स्वस्थ, समग्र, प्रफुल्ल, पूर्ण बन, मोह मुक्त,
मैं विश्व प्रकृति की महदात्मा में समा गया !
मुझको प्रसन्न मन देख, धूप सकुचा···कुम्हला···
बोली, "अब विदा ! मुझे जाना है ! —वह देखो,

किरणें अस्ताचल पर कंचन पालकी लिये
मुझको ठहरी है, क्षितिज रेख का सेतु बाँध !
युग संध्या यह, अस्तमित एक इतिहास वृत्त,
ढलने को ब्रह्म अहन्, बुझने को कल्प सूर्य,
मुँदने को मानस पद्म,—उदित ज्योतिर्मय कवि–
घूमता विवर्तन चक्र, आज संक्रांति काल ! —

"यदि अंधकार का घोर प्रहर टूटे तुम पर,
तो मुझे स्मरण रखना, यह ज्योति धरोहर लो,—
जब होगी मानम ग्लानि, घिरेगी मोह निशा,
मैं नव प्रकाश संदेशवाह बन आऊँगी,
संध्या पलनों में झुला सुनहले युग प्रभात !"
यह कह वह अंतर्धान हो गई पल भर में,
सिमटा अपनी आभा के अगों को उर मे !

कृतज्ञता

मैं कृतार्थ हूँ, देह, तृणों के लघु दोने में
तुम मेरी आत्मा का पावक करती धारण,—
बहता सुर संगीत तुम्हारी शिरा शिरा में
जब मै कर्म क्षुधित अवयव करता संचालन !
मैं कृतज्ञ, मन, अंधकार को टोह अनुक्षण
तुम प्रकाश अंगुलि बन करते पथ निर्देशन;
भाव, बुद्धि, प्रेरणा—ब्राह्म श्रेणियाँ पार कर
तुम तन्मय हो बनते शाश्वत मुख के दर्पण !

प्राण, धन्य तुम, रजत हरित ज्वारों में उठकर
आशा आकांक्षा के मोहित फेनिल सागर

चन्द्र कला को बिठा स्वप्न की ज्वाल तरी में
तुम बिखेरते रत्न-छटा आनन्द तीर पर !
मैं उपकृत, इंद्रिया,—रूप रस गंध स्पर्श स्वर
लीला द्वार खुले अनंत के भीतर बाहर
अप्सरियों से दीपित सुरधनुओं के अंबर,
निज असीम शोभाओं में तुम पर न्योछावर !
प्रेम, प्रणत हूँ, मेरे हित तुम बने चराचर,
ज्योति, मुग्ध हूँ, तुम उज्ज्वल उर मुकुर अगोचर;
शांति, देह मन की तुम सात्विक सेज अनश्वर,
प्रिय आनन्द छंद तुम मेरे, आत्मा के स्वर !

१९५६]

हिम प्रदेश

हिमगिरि प्रांतर था दिग् हर्षित,
प्रकृति क्रोड़ ऋतु शोभा कल्पित,—
गध ग्रथी रेशमी वायु थी,
मुक्त नील गिरि पंखों पर स्थित !
हरित जलधि-से थे निर्जन वन,
जिनमें घुमने में लगता भय,
भाव मौन गहरी छायाएँ
कँप कँप उर में भरतीं विस्मय !
नीरवता की मूर्ति शिलाएँ
गुह्य बोझ-सा अंतर में धर
स्तंभित कर देतीं चंचल पग,
नव वय को मंत्राभिभूत कर !

शृंग नाद कर झरते निर्झर
भारी कौतूहल भर मन में,
दूध फेन के स्रोत उफनते
गिरि के गीत मुखर आँगन में !

विजन वीथि में मिलतीं परियाँ
इंद्रधनुष अंचल फहराए,
धूप छाँह रंग सारी पहने
स्वर्ण गंध कुंतल छहराए !
लिपटा रहता गिरि पंजर से
मांसल कलि कुसुमों का मार्दव,
फूल माल-सी उड़ विहगावलि
रंग पंख बरसाती कलरव !

देवदारु के हरित शिखर उठ
भू की जिज्ञासा से ऊपर
तारों से हँस बातें करते
नभ का नील रहस्य चीर कर !
भू की परिक्रमा कर ऋतुएँ
वहाँ वास करतीं प्रति वत्सर,
वह कुसुमित शृंगार कक्ष था
गंध वर्ण ध्वनि ग्रथित मनोहर !

कब विचरा मैं नव किशोर बन
अनगढ़ पग धर अविदित भू पर—
परिवर्तन पथ भू विकास का
चलता काल अदृश्य चरण धर !
मध्य वित्त गृह सुख में जन्मा,
धर्मप्राण पा पिता महा मन,

शिखर अपर वात्सल्य स्नेह के,
गौर, शंख मंदिर सा प्रिय तन !

मातृहीन, मन से एकाकी,
सलज बाल्य था स्थिति से अवगत,
स्नेहांचल से रहित, आत्म स्थित,
धात्री पोषित, नम्र, भाव-रत !
प्रकृति गोद में छिप, क्रीड़ा प्रिय,
तृण तरु की बातें सुनता मन,
विहगों के पंखों पर करता,
पार नीलिमा के छाया वन !
रंगों के छीटों से नवदल
गिरि क्षितिजों को रखते चित्रित,
नव मधु की फूलों की देही
मुझे गोद भरती सुख विस्मृत !
कोयल आ गाती, मेरा मन
जाने कब उड़ जाता वन में,
षड्ऋतुओं की सुषमा अपलक
तिरती रहती उर दर्पण में !

पुण्य तीर्थ प्राचीन हिमालय
पावन तपोवनों से शोभित,
जहाँ साधु जन आते, आत्मिक
शांति खोजने, तत्व लाभ हित !
चंचल रंग प्रकृति की शोभा
हृदय स्पर्श करती दिङ् मुकुलित,
ध्यानावस्थित मूर्ति योग की
उर को विस्मय संभ्रम मोहित !

पग पग पर ग्रामीण सरल मन
नव वय का करते अभिनन्दन,
शिखरों का वैभव, समतल का
दैन्य चित्त में चुभता अनुक्षण !

नहीं भूलता सहज मनुज मन
प्रिय किशोर वय के स्मृति दंशन,
मनोग्रंथि निर्माण काल वह
रंजित जिससे जीवन दर्शन !
आरोही हिमगिरि चरणों पर
रहा ग्राम वह,—मरकत मणि कण,
श्रद्धानत,—आरोहण के प्रति
मुग्ध प्रकृति का आत्म समर्पण !
साँझ प्रात स्वर्णिम शिखरों से
द्वाभाएँ बरसाती वैभव,
ध्यानमग्न निःस्वर निसर्ग निज
दिव्य रूप का करता अनुभव !

कोश हरित, तृण श्वसित तल्प पर
सातप वन श्री लगती सुन्दर,
नील झुका सा रहता ऊपर
अमित हर्ष में उसे अंक भर !
शुभ्र हरित परिवेश घिरा वह
स्फटिक मुकुर लघु जनपद प्रांगण
हिम सित शांति हृदय में भरता
वन मर्मर प्राणों में मादन !
भेद नील को मौन शृंग उठ
जाने क्या कहते अंतर में

निर्निमेष नयनों से पीता
सुन अनत के नीरव स्वर मैं !
दृग शोभा-तन्मय रहते नित
देख क्षीर शिखरों का सागर
उर असीम बन जाता, अतः-
स्पर्श शुभ्र सत्ता का पाकर !

अमरों के सँग अंतरिक्ष में
मन शृंगों पर करता विचरण,
निर्मल था कौमार, भावना
स्वप्न पंख करती आरोहण !
उस पवित्र प्रांतर की आत्मा
हुई निविष्ट हृदय मे अविदित,
प्राणि मात्र में व्याप्त प्रकृति की
गोपन सत्ता रहती निश्चित !
प्रकृति मातृ शिशु क्षितिज अंक में
खेल कूद हँस पला अलक्षित
नैसर्गिक शोभा से परिवृत
गुह्य अदृश्य शक्ति से रक्षित !

शोभा चपल हुए किशोर पग
गरिमा विनत बना गभीर मन,
रंग भूमि थी प्रकृति मनोरम
पृष्ठ भूमि हिमवत् की पावन !
अनजाने सुन्दर निसर्ग ने
किया हृदय स्पर्शों से संस्कृत,
उज्ज्वल स्वर्णिम उच्छ्रायों में
अंतर्मुख मन को कर केन्द्रित !

ऋषियों की एकाग्र भूमि में
मैं किशोर रह सका न चंचल,
उच्च प्रेरणाओं से अविरत
आंदोलित रहता अंतस्तल !

निज प्रकाश इंगित से कोई
आकर्षित करता उत्सुक मन,
कब डूबा मैं ज्योति सिंधु में
अवचनीय था यह गोपन क्षण !
वय:संधि की ओट खड़ा था
संघर्षों का पर्वत यौवन,—
मधु रँग रस फूलों में लिपटा
पावक का दीपित ग्रह नूतन !

१९५७]

स्वतंत्रता जागरण

आदि काल से ऋषि मुनियों की
साधन भूमि रहा जो भारत,
उसके भस्मावृत शरीर में
ढकी अग्नि ऋत चित् की भास्वत !
जड़, जीवन, मन को अतिक्रम कर
शाश्वत के पा अंतर्दर्शन
रुका हुआ वह, भू जीवन की
स्थितियों का हो सके उन्नयन !

भक्ति, ज्ञान, श्रद्धा, तप, संयम
भू की मर्यादाएँ प्राक्तन,

त्याग, धैर्य, निष्काम कर्म ही
लोक प्रेम, सेवा के साधन !
आत्म तोष मय सात्त्विक जीवन
परंपरा संतों की पावन,—
मध्य युगों से रहा उपेक्षित,
भू जीवन मूल्यों का वितरण !

उसी धरा में उदय हुए थे
जन नायक, जगवंद्य महात्मन्,
जिनके निश्छल स्फटिक हास्य से
मौन गुंजरित जन मन प्रांगण !
देव विनय, श्रम शुभ्र वेश मय,
आत्म शक्ति के पर्वत अविजित,
वे फिर से चेतन के वर से
जड़ को करने आये संस्कृत !
लोक पुरुष पहचान गये थे
प्रथम दृष्टि में भारत का मुख,
बढ़ते भौतिक युग प्रवाह में
मिले न जनहित श्रेय शांति सुख !

रक्त नेत्र पश्चिम में उनको
दिखा भव्य प्रासाद विभव का,
पशु बल के भुज दंड पर खड़ा,
जो निवास था युग दानव का !
प्रथम युद्ध के खर तांडव से
जन भू अंतर था मर्माहत,
भय सेवा हित लिया धीर ने
सत्य अहिंसा का पवित्र व्रत !

पशु बल से हो मनुज पराजित
सह न सका युग मानव का मन
विश्व मुक्ति हित छेड़ा निर्भय
देश मुक्ति का वह नैतिक रण !

इंगित पा, सदियों का खँडहर
जाग उठा फिर जीवन मोहित
एक—भिन्न मत भूमि युगों की
जन बल में हो उठी संगठित !
उन्हें इष्ट था भौतिक मद को
आत्मिक बल से करना शासित,
धरा चेतना के विकास को
नैतिक संस्कृति के रख आश्रित !
क्षेत्र बनाने आये थे वह,
नव मानवता के हित विस्तृत,
भौतिक युग की दुर्मद गति को
बना सौम्य, संयत, मनुजोचित !

नवोन्माद था भौतिकता का
मनुष्यत्व था आत्म पराजित,
वणिकों का साम्राज्यवाद था
भू देशों को दुह कर जीवित
भौतिक पशुता से लोहा ले
मनुज हृदय करना था विगलित !
पूर्ण अहिंसक बन मानव को
भू दानव करना था संस्कृत !
पराधीनता में भी जिसकी
मुक्त रही नित आत्मा शाश्वत,

अणु मृत भव-जन के मंगल हित
उस भू को होना था जाग्रत !
जन स्वतंत्रता के उस रण ने
किया विश्व चेतस् आकर्षित,
भारत की ऐतिह्य देन वह
नव युग पृष्ठों पर स्वर्णांकित !

रक्तहीन रण क्षेत्र रही भू
आहत नहीं हुआ मानव तन,
रुधिर स्रवित हो उठा धरा उर
कँपा सभ्यता का मन पाहन !
निश्चय रे वह समर नहीं था
वह था संस्कृति पर्व सनातन,
अमृत स्पर्श मानव आत्मा का
जड़ पशुता को करता चेतन !
पर मानव पशु खर नख दंष्ट्रा
शृंगी वन पशु से नृशंस मन,
स्थापित स्वार्थों हित नित शंकित
मनुज रूप में दानव भीषण !

मनुज वृत्तियों में था युग रण,
पाप पुण्य में, घृणा प्रेम में,
दंभ शील, अन्याय न्याय में,
आत्म स्वार्थ औ' लोक क्षेम में !
शनैः सौम्य आत्मिक स्पर्शों से
वज्र धरा उर होता विगलित,—
नव भौतिकता नयी शक्ति थी
लोक क्षेम संवर्धन के हित !

भौतिक गति से आध्यात्मिक जग
हुआ ऊर्ध्व के संग भू वितरित,
जैव चेतना से अनुप्राणित
हुए गहन मन के स्तर दीपित !
नित नव वैज्ञानिक खोजों से
हुई मनुज क्षमता शत वर्धित,
जन-जीवन-रचना संभव थी
जड़ चेतन को कर संयोजित !

सत्यों की कर शोध पूर्व ने
किया तत्त्व का रूप निरूपित,
तथ्यों को खोजा पश्चिम ने
विकसित तंत्र दिया भू जन हित ।
सत्य तथ्य, विज्ञान ज्ञान, दो
पक्ष, एक बहु के द्योतक नित,
लोक श्रेय, जीवन उद्भव हित
रहें विषम सम चरण समन्वित !

१९५९]

नव निर्माण

भारत अब स्वाधीन हो चुका,
(शेष अभी मानवता का रण !)
बहिरंतर गृह रचना कर नव
उसे सँजोने भू दिक् प्रांगण !
महीयसी घटना यह युग की
जन भू के जीवन मंगल हित—

यह अधिमानस भूमि धरा की
जहाँ शांति तप-बल से अर्जित !

स्वर्ग दूत की नर बलि दे फिर
रक्त पूत क्या हुए धरा कण ?
भ्रांति मुक्त हो सका शप्त क्या
मध्य युगों का शील रुग्ण मन ?
नम्र अहिंसक को हिंसा की
क्रूर विदा ! रे दैव दग्ध क्षण !
हिंसा यदि उठ जाए धरा से
तो जन भू का भरे आर्द्र व्रण !

ऐसे ही आए थे ईसा
सिर पर काँटों का किरीट धर
दिव्य प्रेम के देवदूत-से
स्वर्ग राज्य का लाए थे वर !
द्रष्टा थे, कवि-हृदय, फूल में
पढ़ते थे वे प्रभु के प्रवचन,
अशुभ न रोको—सर्व क्षेम रत
रहो,—परम साहसिक थे वचन !

मनुज हृदय खग, विद्ध तभी से
चढ़ा क्रूर तम की सूली पर,
आसुर शर का रक्त सिक्त क्षत
भरना मर्त्य धरा का दूभर !
देश जाति की मोह भित्तियाँ
रोके भू मानव विकास क्रम,
मुक्त नहीं चेतना, त्रस्त मन,
मँडराता सिर पर यम,—अणुबम !

अंतरिक्ष युग अब दृग सम्मुख—
उपग्रहों में परिभ्रमण कर
चंद्र भौम, उशना के प्रांगण
छूने को, लो, दिग् विजयी नर !
सर्वक्षेम के स्वर्ण बीज क्या
बोएगा वह जन धरणी पर ?
मन को यह विश्वास न होता
जीवन शंकित जग का अंतर !

भीम विरोधी शिविरों में अब
बँटा भाग्य-हत भू जीवन मन,
होड़ लगी भीषण अस्त्रों में
आग्नेयों ब्रह्मास्त्रों का रण !
द्वन्द्व छिड़ा अब प्रलय सृजन में
वैज्ञानिक युग का अभिवादन
दग्ध धरा मानस में घिरती
महामृत्यु छायाएँ प्रतिक्षण !

अन्न वस्त्र गृह के अभाव में
नग्न कुरूप बहिर्जग जीवन,
सर्वक्षेम का स्वर्ग दूर रे
घिरे अविद्या से दरिद्र जन !
भू देशों में द्रोह भयंकर
विज्ञानाऽमृत बना गरलवत्,
कामधेनु बहु यन्त्र सुलभ,—पर
मानव तृष्णा फन खोले शत !

नाश उगलने को ज्वाला गिरि
अग्नि प्रलय का यह नव प्लावन,
सोच रहा मानव भविष्य पर

नाश छोर पर खड़ा मूढ मन !
युग जीवन मन के अंतर्गत
समाधान सूझता न सभव,
आत्म-पराजित मानव के हित
बहिर्विश्व में भी रे परिभव !

अंतर्भुवनों के नभ में यदि
विचरण करे बहिर्मुख युग मन
ज्ञात सत्य हो उसे अखंडित
एक निखिल बहिरंतर जीवन !
इंद्रिय विमुख मनुज आत्मा ज्यों
द्वार रहित मृत गृह तमसावृत,
आत्म हीन मानवता त्यों ही
दानवता की प्रतिमा कुत्सित !

भू खंडों में भग्न, विभाजित
बहिर्मुखी युग मानव का मन,
स्थापित स्वार्थों में शत खंडित
मानव आत्मा का हत प्रांगण !
देश खंड से भू मानव का
परिचय देने का क्या क्षण यह ?—
मानवता में देश जाति हों
लीन, नए युग का सत्याग्रह !

विविध ज्ञान विज्ञान समन्वित
विश्व तंत्र हो साधन-विकसित,
भेद मुक्त हो दृष्टि हृदय की,
पूरित हो भू-जीवन इच्छित !
प्रीति युक्त जन, शील युक्त मन,

उपचेतन प्रांगण रुचि संस्कृत,
मनुज धरा को छोड़ कही भी
स्वर्ग नहीं संभव, यह निश्चित !

भू विकास मानव स्तर पर रे
चेतन मनसों पर अवलंबित
बहिरंतर उन्नति हो युगपत्
मिटे दैन्य तन मन का गर्हित !
बागडोर जीवन की थामें
भू जन, हों परिवार नियोजित,
ज्योतिवाह बन सकें नवागत,
हृष्ट पुष्ट स्मित, शिक्षित, संस्कृत !

अति मानव, सामूहिक मानव
ये युग के अतिवाद भाव स्थित,
सहज राशि गुण सार ग्रहण कर
मानवता विकसित होती नित !
सतत दूर के तीर सुनहले
जन मन को करते आकर्षित,
सूक्ष्म मन: सिद्धांत बदल कर
स्थूल जगत में होते मूर्तित !

आज विशेषीकरण समाजी-
करण साथ चल रहे धरा पर,
महत् धैर्य से गढ़ने सबको
मन के मदिर, जीवन के घर !
यह दीक्षा का युग न कला में,—
बृहत् लोक शुभ से हो प्रेरित
भू रचना के स्वर्णिम युग के
कला शिल्प स्वर शब्द हों अमित !

संस्कृति का जब वृत्त संचरण
होता क्रमशः पूर्ण प्रस्फुटित
तब भावों के सूक्ष्म रहः स्तर
गुह्य अर्थ निज करते व्यंजित !
ऐसे युग होते दीक्षा युग
मत्र, तंत्र शैली में विकसित,
युग जीवन—आदर्श, नीति, विधि,
दर्शन में हो उठता केन्द्रित !

युद्ध क्षेत्र अब नहीं बाह्य जग
बाहर का रण हुआ समापन,
प्रणत प्रकृति मानव के सम्मुख
विकसित भू जीवन के साधन
अंतर के मानव से लड़ना
लोक व्रती को आज प्राणपण,
भीतर की भित्तियाँ चूर्ण हों—
आलोकित हो जन भू प्रांगण !

अंतः क्षमता सतत अपेक्षित
जन भू-जीवन के विकास हित,
बाह्य शक्तिमत्ता का प्रवचन
अणु अस्त्रों में आज पराजित !
भू संघर्षण प्रभु पद पूजन
यदि वह जन मंगल हित प्रेरित,
स्थायी शुभ के लिए चाहिए
शील शुद्ध साधन मनुजोचित !

भू पर संस्कृत इंद्रिय जीवन
मानव आत्मा को रे अभिमत,

ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी
संन्यासी, जीवन से उपरत !
आत्मा को प्राणों से बिलगा
अधिदर्शन ने की जग की क्षति,
ईश्वर के सँग विचरे मानव
भू पर, अन्य न जीवन परिणति !

स्वर्ग, नरक, इह पर लोकों में
व्यर्थ भटकते धर्म मूढ जन,
ईश्वर से इंद्रिय जीवन तक
एक संचरण रे भू पावन !
जन भू पर निर्मित करना नव
जीवन बहिरंतर संयोजित,
एक मनुज हो, एक धरा हो,—
यही भागवत जीवन निश्चित !

देव दनुज को सम द्रष्टा ने
दी सम शक्ति जगत विकास हित,
यह मानव मति गति पर निर्भर
वह हो देव-दनुज के आश्रित !
ज्योति प्रीति तप, शांति श्रेय धृति,
शील न्याय—देवों के प्रतिनिधि,
घृणा द्वेष भय, कलह कलुष, रुज्,
रोष दर्प,—ये दानव की निधि !

मनुज ऐक्य हो खंड-धरा पर
ईश्वर के चरणों पर स्थापित,
मातृ लोक सत्ता में मूर्तित—
बहुविधि जन रुचियाँ हों आदृत !
मुक्त समांतर रेखाओं-से

व्यक्ति समाज, एक बहु विकसित
लोकोदय में मिलें परस्पर,—
भू जीवन मंगल से प्रेरित !

१६५७]

भारत माता

भारत माता
ग्राम वासिनी !
खेतों में फैला दृग श्यामल
शस्य भरा जन जीवन आँचल,
गंगा यमुना में शुचि श्रम जल
शील मूर्ति,
सुख दुख उदासिनी !
स्वप्न मौन, प्रभु पद नत चितवन,
होंठों पर हँसते दुख के क्षण,
संयम तप का धरती सा मन,
स्वर्ग कला.
भू पथ प्रवासिनी !
तीस कोटि सुत, अर्ध नग्न तन,
अन्न वस्त्र पीड़ित, अनपढ़, जन,
झाड़ फूस खर के घर आँगन,
प्रणत शीश
तरुतल निवासिनी !
विश्व प्रगति से निपट अपरिचित,
अर्ध सभ्य, जीवन रुचि संस्कृत,
रूढ़ि रीतियों से गति कुंठित,

राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी !
सदियों का खँडहर, निष्क्रिय मन,
लक्ष्य हीन, जर्जर जन जीवन,
कैसे हो भू रचना नूतन,—
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी !
पंचशील रत, विश्व शांति व्रत,—
युग युग से गृह आँगन श्रीहत,
कब होंगे जन उद्यत जाग्रत ?—
सोच मग्न
जीवन विकासिनी !
उसे चाहिए लौह सगठन,
सुन्दर तन, श्रद्धा दीपित मन,
भू जीवन प्रति अथक समर्पण,
लोक कलामयि,
रस विलासिनी !

१९५८]

स्नेह दृष्टि

तुम कैसा सित पौरुष
सात्त्विक बल भर देती,
हो उठता निर्भीक हृदय
पा दृष्टि स्पर्श स्मित !
ये जो छाया के प्रासाद
उठे भू मन में

युग-युग के लूले लँगड़े
जीवन मूल्यों के—
मैं प्रकाश की असि से
उन्हें मिटा जाऊँगा,—
झाड़ - पोंछ जाऊँगा
मनुज धरा का आँगन !

ये जो वाष्पों के घन दुर्ग
अड़े पृथ्वी पर
रूढ़ि रीति के
विधि विधान के—
तहस-नहस कर दूंगा मैं
इनको पल भर में,
प्रखर प्रेरणा झंझा से
झकझोर हृदय को !

कैसा कोमल बल भर जाता
मेरे भीतर,
हिंसा स्वयं ग्लानि वश सो जाती
मूर्च्छित हो—
घृणित उपेक्षित को
जन भू पर निर्भय करने
उठ जाते मृण्मय-कर स्वतः
अभय मुद्रा में !

शब्द मौन रह जाते,
दृष्टि स्नेह की निःस्वर
अंतर से झांकती—

बदल जाता जग का मुख,—

काँटे की झाड़ी से घिरा
फूल सा अकलुष
मनुज दीखता
शिशु सा विवश
जघन्य परिस्थितियों की
निर्मम कारा में
आजीवन बन्दी !

१९६६]

बीज

बीज सत्य की
सूक्ष्म खोज मे
तत्ववादियों ने
छिलकों को छील-छील कर
फेंक दिया था—
उनको मायावरण मानकर !
मैंने फिर से
उन्हें यथावत्
बीज ब्रह्म में
सँजो दिया है !

अब समग्रता मे
मैं उसको देख रहा—
वह
साँस
सृष्टि में लेता
शाश्वत !

१९६६]

सीख

अवसाद ?
मत पास फटकने दो इसको,—
जीवन विकास हित
घातक यह
भूजीवी के हित
पातक यह !

नहीं स्पिनोजा ही का मत
यह मेरा भी अनुभव, अभिमत !

हाँ, आह्लाद ?
इसे निज जीवन - सखा बनाओ,
श्रम को अपनाओ,
भू-जीवन मंगल गाओ !

अपने लिए नहीं
स्वदेश के लिए भी जियो,
घाव भग्न-हृदयों के सियो !

यह धरती
जगती उनकी है
जो अपने ही नहीं
दूसरों के हित भी
जीवित रहते–
युग विकास वेला में–
औरों के भी
सुख-दुख सहते !

१९६६]

प्रज्ञा

वन फूलों में
मैंने नये स्वप्न रँग दिए,
कल देखोगे !

कोकिल कंठ में
नयी झंकार भर दी
कल सुनोगे !

ये तितलियों के पंख
वन परियों को दे दो,
चेतने,
तुम्हारी शोभा
विदेह चाँदनी है,
अपना ही परिधान !

धरती अब
लट्टू सी घूमती है
तो क्या ?
हम बड़े हो गए !
पर्वतों की बड़ी-बड़ी उमंगें
अंगूठे के बल खड़ी
शांत, मौन, स्थिर हैं !
समतल दृष्टि
समूची पृथ्वी न देख पाई थी,—
ऊपर के प्रकाश से
समाधान हो गया !

अब पंकस्थल पर भी चलें
तो ऊपर की दृष्टि
डूबने न देगी ।

१९५८]

धर्मदान

यह प्रकाश है,
तुम इसमें क्या खोजोगे,
क्या पाओगे ?–
यह दीप
तुम्हें सौंपता हूं !

यह अग्नि है,
तुम किन आनंदों के
यज्ञ करोगे,
किन कामनाओं की
हवि दोगे ?···
यह वेदी
तुम्हें सौंपता हूं ?···

यह प्रकाश और अग्नि ही नहीं,
गति है, जीवन है,
तुम किन लोकों में
जा पाओगे ? —
यह किरण
तुम्हें सौंपता हूँ !
यह अग्नि
अंतर अनुभूति है,

तुम सत्य के स्रोत को
देख पाओगे कि नहीं ?
यह अभीप्सा
यह प्रेरणा
तुम्हें सौंपता हूँ।

१९५८]

ऊषा संध्या

गिरि शृंगों पर भातीं आतीं
ऊषा संध्याएँ दिङ् निःस्वर,
नील गगन से झर झर पड़ता
स्वर्णिम किरणों का स्मित निर्झर !
उषा स्वप्न - शोभा - ज्वाला से
रँग सा देती विश्व दिगंतर,
एक अनिर्वचनीय शांति में
भाव मग्न हो उठता अंतर !
खग ही गाते ? फूल पात तृण
रजकण भी गाते इंगित कर
मुझे सुनाई पड़ते उनके
दिक् प्रसन्न, कंपित, नीरव स्वर !
लिपट समीर लता तरु तृण से
पुष्पों की मधु रज पी सुरभित,
स्वर्ग श्वास सा बहता शीतल
प्रति रजकण को कर उन्मेषित !
भूतों का ऐश्वर्य
जीव जग को भी

करता तन्मय, हर्षित,
गिरि शिखरों का नव प्रभात
हरता मन
सद्यः शोभा प्रहसित !

साँझ मुझे पर, अधिक सुहाती
छाई निर्जन गिरि आँगन पर
स्वप्नों में सी डूबी तन्मय
शनैः उतरती वह श्री सुन्दर !

स्वर्ण - नील गैरिक छाया में
भाव - निमज्जित हो गिरि प्रांतर
ध्यानावस्थित सा लगता—
अपलक, निश्चल-अंतर्मुख-भास्वर !

रजत-वारि दिन का उँडेलकर
रक्तिम ताम्र कलश सा भास्कर
ज्योति-रिक्त अब, ऊब डूब सा
करता पश्चिम सागर तट पर !

प्रदक्षिणा करता पृथ्वी की
प्रतिदिन उदय अस्त हो दिनकर,
तथ्य यही, विपरीत सत्य हो—
जन मन बाह्य-बोध पर निर्भर!

बहिर्विभवमय अंतःस्मित ऊषा—
सक्रिय तन - मन, जीवन-क्षण,
अंतर्दृष्टिमयी प्रौढ़ा संध्या,
मन करता मौन समर्पण !

१९६७]

सृजन व्यथा

सृजन व्यथा
जगती रहती !

तुम्हीं हृदय बन
विश्व वेदना दर्शन
प्रतिक्षण सहती !

मनुज हृदय अवरुद्ध,
युगों से संघर्षण रत,
व्यक्त कर सके वह
आत्मा का स्वर्णिम अभिमत !
अन्तर्ज्वाला
भाव प्रवण कवि का उर दहती !

कैसे हो भू जीवन कुसुमित
विश्व सभ्यता संस्कृति विकसित,
जब शोभा मंगल प्रहर्ष का स्रोत
हृदय ही हो निरुद्ध—
चैतन्य ज्योति रस वंचित !...
कवि की रस-सित प्रज्ञा कहती !

ओ अदम्य अविजेय शक्ति,
तुम भूमि - कंपवत्
भाव जगत् कर मंथित,
जीवन में होगी अभिव्यंजित,

भू विरोध कर प्रशमित !
गुह्य, प्रचंड, अबाध वेग से
तुम अन्तर में बहती !

भू जीवन प्रतिनिधि कवि-अंतर,
तुम हृत् तंत्री रस झंकृत कर
रचती नव चैतन्य-स्वयं
ढल स्वर-संगति में महती !

१९६७]

गिरि विहगिनी

कितने रंगों के पंखों से हो तुम भूषित
ओ गिरि-विहगिनि, रश्मि-ज्वाल शोभा में वेष्टित,
रंग-कुबेर बनाया लगता तुमको विधि ने,
सुरधनुओं की रत्न-तूलि से कर तन चित्रित !
वर्ग-चयन में या तुमने ही कला-दृष्टिमयि,
वर्णों का वैभव अपनाया दीप्त चमत्कृत ?—
यह जो भी हो, ओ निर्जन तरुवन की वासिनि,
तुम मेरे उर को प्रिय छवि से करतीं मोहित !

कहते, रंग छटाएँ भावों की प्रतीक भर,
तुम धनाढ्य हो उर की संपद् में भी निश्चय,
नील हरित सित रक्त पीत धूमिल पाटल तन,—
नया कल्पना-लोक दृगों में खुलता छविमय !
विहगिनि, एकाकी मैं, बैठा तरु - छाया में,
देख रहा हूँ ग्रीवा - भंगि तुम्हारी सुन्दर,
चपल पंख फड़का तुम, कुदक-फुदक डालों पर,
अस्फुट स्वर भरतीं, संभव, मुझसे मन में डर !

तुम विश्वास कहीं कर सकतीं मेरा, रंगिणि,
समुद उतर आतीं नीचे मेरी गोदी पर
मैं कितना पुलकित होता तुमसे बातें कर,
तुम्हें मधुर पुचकार, अंक भर, ले आता घर !

दाने तुम्हें चुगाता, मेवे मींज - मींज कर,
पानी पी आश्वस्त, सहज कंधे पर सिर धर,
जब तुम सो जातीं, मैं तब तक बैठा रहता
मौन प्रतीक्षा में, प्रतिक्षण रक्षा हित तत्पर !

तुम्हें पींजड़े में क्या मैं बंदिनी बनाता ?
तुम चाहे जब भी उड़कर बन में जा सकतीं,
कूक चहक जब तुम्हें बुलाता स्नेही सहचर
मधुर रंग संगिनियाँ बाट तुम्हारी तकतीं !
आत्म-तोष का मुक्त गीत गातीं तुम तरु से
हर्ष ध्वनित लहरी में बंधता निखिल दिगंतर,
प्रातः फिर तुम आतीं, मैं उठ करता स्वागत,
मौन स्नेह का हम करते उपभोग परस्पर !
कभी गोद ही पर बैठी तुम गाने लगतीं,
शब्दों से भी अधिक अर्थ-गर्भित होते स्वर,
ओ वन-शोभा की प्रतिनिधि, प्रिय रंग-अप्सरे,
बिना कुछ कहे, सहज खोल देते हम अंतर !
उपचेतन के अवबोधों से परिचालित तुम
मन को करती सहज उड़ानों से निज हर्षित,
रोमिल ज्वाला के पंखों से चित्रित कर नभ,
अंग - भंगिमा से कर सुरधनु-सेतु विनिर्मित !
तुम मनाल डफिया की वंशज, खग-कुल दीपक,
सूर्य-रश्मियों के रंग अंगों में रुचि वितरित,
जो भी हो,—निष्काम प्रेम पशु-पक्षी जग का
मनुज चेतना को अनजाने करता विकसित !

मूक प्रेम यह, मुखर प्रीति से कहीं गहनतर,—
होता आदि निगूढ़ हर्ष का उर को अनुभव,

भाव प्रबोधिनि, कभी वधिक नर हो जब संस्कृत
गोदी में उड़, तुम उसके संग खेलो संभव।

१९६८]

यथातथ्य

ओ ऊपर के सत्य,
अधूरे हो तुम निश्चित,
भू का सत्य करेगा
तुमको पूरा विकसित !

तुम अरूप,
मांसल अंगों में होगे मूर्तित,
रज-स्पर्शों से
उर-तंत्री होगी रस-झंकृत !

काल हीन तुम, एक रूप,
ऊपर निष्क्रिय स्थित,
क्षण के पग धर,
तुम इतिहास बनोगे जीवित !

प्राणों की आकांक्षा
तुममें गहराई भर
सुख दुख वेगों से
पुलकित कर देगी अंतर !

भव चिंतन की बोध-रश्मि से
हो उद्दीपित
पाओगे चित् नभ को तुम
श्यामल सुरधनु स्मित !

मनुज हृदय के प्रेम स्रोत में
कर अवगाहन
तुम स्वीकार करोगे
मर्त्य दुःख-सुख बंधन !

सीमा के भीतर
असीम बन कर निःसंशय
सार्थक होगा
देश काल का जीवन सुखमय !

जन-भू के प्रांगण में
तुम होकर संस्थापित
भव विकास-क्रम में
होगे युग-युग संवर्धित !

नित नव परिचय पा निज
उर होगा सुख-विस्मित,
शुद्ध चेतना होगी
श्री सुषमा से मंडित !

तुम एकाकी रहते थे
नभ अन्तस्तल में
भू ने तुमको बांध लिया
निज रज-अंचल में !

आओ, भू पर नीड़ बसाओ,
सिमटा निज पर,
ओ असंग, सेओ स्व-डिम्ब,
नव नव स्व-रूप धर !

भाव-बोध पंखों में उड़
पा जग का परिचय,

कवि के सँग, भू-जीवन,
रचना में हो तन्मय !

१९६८]

विश्व विवर्तन

कैसी पद-चापें सुनता मैं
अस्फुट, निःस्वर,
कौन न जाने चलता
जन मन की धरती पर!
तारे भी कुछ गोपन-सा
करते संभाषण,
रोमांचित-सा फिरता
उन्मद गंध समीरण !
भूधर-पग धर चलता
दुर्जय विश्व विवर्तन,
प्राणों के उपचेतन—
सागर में उद्वेलन !
स्वप्न-प्ररोहित नव शोभा से
जन-भू प्रांगण,
आशाऽऽकांक्षा अपलक
जनगण के लोचन !
मौन प्रतीक्षा में रत
आज युवक-युवतीजन—
नव यौवन को देता युग
जन-भू का शासन !
उनको ही नव युग जीवन
करना संयोजित

निज इच्छाओं के अनुरूप
उसे कर निर्मित !
जीर्ण शीर्ण कर ध्वस्त,
भेद गत युग के मज्जित,
नयी एकता करनी
मानव जग में स्थापित !
विश्व सभ्यता का मुख करना
नव रुचि संस्कृत,
भू-जीवन के प्रति कर
तन मन पूर्ण समर्पित !
भाव-प्रवण मेरा अंतर
करता आवाहन,
आओ हे नव मानव,
करो धरा पर विचरण !
कर्म प्रेरणा के अंचल में
बांधो उर्वर
जीवन का आनंद—
धरा मुख हो दिक्-सुन्दर ।
नये रक्त से करो
सभ्यता का संचालन,
समता पूर्वक कर
सुख-सुविधाओं का वितरण !
नया मूल्य मानव आत्मा को,
देना निश्चय
जन-भू युवको,
आस्थावान् बनो, दृढ़, निर्भय !

१९६८]

सूर्य वसंत

कितने रूपों, बिम्बों में
सौन्दर्य बोध बन
उदय हृदय में होती तुम,
मैं उनको नित
करता रहता अस्वीकृत !

मानवता के चरणों पर
सौन्दर्य दूसरा ही अब
कवि को करना अर्पित !

कितनी पवित्रताओं
निःस्वर गहन शांतियों में
तुम होती
स्वप्नों की निर्झरिणी सी
अनिमेष अवतरित—
मन उनसे हो सका न प्रेरित !

मनुज चेतना को
अभिनव ही भाव बोध से
युग को करना भूषित !

कितने ही मूल्यों में तुम
मन की आँखों में
यौवन के विस्मय सी
होती विकसित—
हृदय रहा उनके प्रति शंकित !

ज्ञात मुझे,
मानव आत्मा को

मूल्य नया तुमको देना
स्वर्णिम चैतन्य समन्वित—
प्राणों के स्तर पर रस जीवित !

प्रेयसि, कवि चेतने,
हिरण्यमय पात्र हटा कर
भावी का मुख
नव सर्जन हित
करना तुम्हें अगुंठित !
विश्व ह्रास विघटन के
धूसर पतझर वन में
देख रहा मैं
दृष्टि-अंध घन अंतरिक्ष में
सूर्य वसंत
प्रचंड सत्य सा
प्रकट हो रहा
भाव प्रज्वलित
प्रज्ञा मंडित !

१९६९]

गीतिकार

गीतिकार बन सका न युग का,
हृत्तंत्री में स्वर भर मादन
विश्व ह्रास के छाए भीषण
. जनगण मन में अंधकार-घन !
रश्मि-स्पर्श पा जग जीवन से
करता रहा सतत संघर्षण,

वस्तु परिस्थितियों के जग में
भरने मानवीय संवेदन !
चिन्तन रत उर नयी दृष्टि
दे सके मनुज मन को कर प्रेरित,
नयी चेतना के प्रकाश से
हृदय प्राण मन हो रस-मंथित !
मैं न ध्वंस करने आया हूँ
या मानव जीवन ही खंडित,
उसे पूर्ण, पूर्णतम बनाने
आया हूँ—कर नव संयोजित !
जो जिस स्थिति में–वहीं रहेंगे,
उठ न सकेंगे निज में सीमित,
नयी चेतना का विरोध धर
यदि वे रहे ज्योति से वंचित !
क्षुद्र और भी क्षुद्र लगेंगे,
राग द्वेष तम कर्दम में सन,—
नव विकास के सोपानों पर,
मनुष्यत्व करता आरोहण !
भाव बोध के गीतों को कर
नव प्रकाश स्वर लिपि में गुंफित
रुद्ध मनुज उर तंत्री को मैं
कर जाऊँगा पावक झंकृत !
आत्मा के संगीत स्रोत ही से रे,
जग जीवन संपोषित,
जीवन मन प्राणों की गति–लय
जिसमें हो उठती रस–मज्जित !

१९६९]

अनन्त यात्री

साधक सदा बने रहना ही
चरम सिद्धि—कहता मन,
मुक्त सिद्धि आकांक्षा से,
अब उपकृत जीवन !

और कौन सी सिद्धि
मुझे दोगी तुम सुखकर ?—
प्रीति पास में बंधे
हृदय मन प्राण निरंतर !

बहता रहूँ सतत
सरिता सा गाता कलकल,—
पथ ही लक्ष्य रहे,
गति ही जीवन का संबल !

मैं अनंत का यात्री—
कहता प्रति हृत्स्पंदन,
पग पग मिलन—
तुम्हारे यात्री का पथ साधन !

मुझे नहीं विश्राम चाहिए,—
गति में तन्मय
जीवन ही संगीत,—
प्रवाह सृजन—लय अक्षय !

समाधिस्थ मन झरे
अमृत रस निर्झर बन कर,
गति विराम हों एक—
प्रेम में युक्त परस्पर
साधक ही मैं रहूँ—
तुम्हीं मा, सिद्धि अनश्वर,
एक, अनन्य,
सिद्धियों से पर,
नित्य परात्पर !

१९६९]